राजस्थान में शिक्षा का इतिहास

(1818-1950 ई.)

History of Education in Rajasthan

(1818-1950)

डॉ. गिरिजाशंकर शर्मा

कलासन प्रकाशन

अलख सागर, बीकानेर

ISBN:978-81-906679-8-2

प्रकाशक : कलासन प्रकाशन, अलख सागर, बीकानेर-334001/संस्करण प्रथम : 2009
आवरण : रमेश शर्मा/लेजर सैटिंग : शंकरसिंह राजपुरोहित/मुद्रक : कल्याणी प्रिंटर्स,बीकानेर
मूल्य : एक सौ पच्चीस रुपए।

History of Education in Rajasthan (1818-1950) by Dr. Girijashankar sharma
Price : Rs 125/-

समर्पण

राजस्थान के आधुनिक इतिहास के
मर्मज्ञ और राजस्थान विश्वविद्यालय
के इतिहास विभाग के
पूर्व अध्यक्ष, मेरे श्रद्धेय गुरुदेव
स्व. डॉ. एम. एस. जैन

भूमिका

खूबसूरत पेड़।

भारतीय शिक्षा को यह नाम महात्मा गांधी ने दिया था – विशेषतया उस शिक्षा को, जो अंग्रेज शासकों के यहाँ आने से पहले और अपनी शिक्षा-पद्धति शुरू करने से पहले भारत में प्रचलित थी। सन् 1931 में गांधी जी ने लंदन की एक सभा में कहा था – ब्रितानी शासन में हमारा यह खूबसूरत पेड़ अब बरबाद हो चुका है। सौ वर्षों की ब्रितानी हकूमत में भारतवासी पहले की बजाय कहीं अधिक निरक्षर हुए हैं।

सर फिलिप हर्टाग ने, जो कभी ढाका विश्वविद्यालय के कुलपति थे, इस वक्तव्य का खंडन किया और चाहा कि गांधी अपनी बात के समर्थन में प्रमाण दें। बापू ने समय निकालकर 'यंग इंडिया' की पुरानी फाइलों से प्रसिद्ध शिक्षाविद् श्री दौलतराम के दो लेख तलाश करके श्री के.टी.शाह को उन्हें जवाब देने हेतु उक्त लेख भिजवाये, पर सर फिलिप को संतोष नहीं हुआ।

श्री धर्मपाल ने 'द ब्यूटिफुल ट्री : इंडीजिनस इंडियन एज्युकेशन इन द एट्टीन्थ सेंचुरी' नामक अत्यन्त शोधपरक पुस्तक लिखकर, जो प्रकाशित की थी, उसे सर फिलिप के नाम मृत्यूपरान्त उत्तर माना जा सकता है। उस पुस्तक में वैसे आज के संदर्भ में बात कही गई है, फिर भी यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। लेखक ने शिक्षा प्रणाली के उस विकल्पात्मक स्वरूप का विवेचन विश्लेषण किया है, जो अभी ज्यादा अर्सा नहीं हुआ, हमारे यहां प्रचलन में थी।

अगर हम सन् 47 के साक्षरता के आंकड़ों पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि मात्र 2.96 प्रतिशत बालक (10-14 आयुवर्ग) साक्षर थे। राजस्थान के राजपूत राज्यों में तो साक्षरता का यह आंकड़ा इससे कम ही रहा होगा। जाहिर है अंग्रेजों ने अपने दो सौ वर्षों के शासनकाल में प्राथमिक शिक्षा की किस तरह उपेक्षा की थी। उन्हें तो अपने शासन को स्थायीत्व देने वाले अंग्रेजी भाषा ज्ञान प्राप्त अधिकारियों – कर्मचारियों की आवश्यकता थी, अतः अंग्रेजी शिक्षा को महत्व देकर उन्होंने नौकर वर्ग

यार किया और अधिकांश भारतीय नागरिकों को शिक्षा के लाभों से चित रखा। इसके बावजूद निजी स्तर पर भारतीय सम्पन्न वर्ग के अपने य तथा स्थानीय शासक वर्ग द्वारा प्राथमिक विद्यालयों को चलाये जाने प्रमाण हैं।

राजस्थान में शिक्षा का इतिहास नामक यह पुस्तक राजस्थान में 818 से 1950 के बीच शैक्षिक परिदृश्य का एक रोचक आकलन है। ग्रेज शासकों की दुर्नीति से भले ही देश के शैक्षिक परिदृश्य में राजस्थान चे से दूसरे नंबर पर रहा हो, पर 'आज राजस्थान जिस भौगोलिक वरूप में विद्यमान है उसका अतीत शिक्षा शून्य नहीं रहा।' लेखक का हले अध्याय का यह पहला वाक्य स्वदेशी शिक्षा की उस श्रेष्ठ परम्परा ा स्मरण कराता है, जहां जीवन से जुड़े विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त रने हेतु अनौपचारिक शिक्षा प्रणाली की जीवंत धारा प्रवहमान थी। जपूत राजवंशों की राजधानियों में अपने शैशवकाल से ही शिक्षा केन्द्र ह रूप में विख्यात थीं। भीनमाल, चित्तौड़, मेड़ता, अर्थुणा आदि के दृष्टांत ाक्षी हैं कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के तथा ज्योतिष, गणित, नक्षत्र ज्ञान आदि के उद्‌भट विद्वान राजस्थान में वैज्ञानिक पद्धति से ज्ञान साध ना में लीन थे और विभिन्न जातियों के लोग अपनी संतानों को ायोगिक रूप से विविध व्यवसायों का ज्ञान देते थे।

राजपूत मुस्लिम काल में दरगाहों के खादियों के बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था के अनेक स्रोतों की जानकारी प्राप्त होती है, विशेष रूप े 12वीं-13वीं सदी के पश्चात्। मकतबों-मंदिरों-उपासरों में विद्याध्ययन की परम्परा थी, जहां शास्त्र-चर्चा भी होती और नया साहित्य-सृजन भी।

पूर्व में राज्यों में धार्मिक, व्यापारिक, प्रशासनिक आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ था और शिक्षा का माध्यम स्थानीय भाषाएं ही थी।

अंग्रेज शासक जिस समय भारतीय पौर्वात्य भाषाओं को शिक्षा का माध्यम न बनाकर अंग्रेजी को भारतीयों पर लादने का दुश्चक्र रच रहे थे, उस काल में राजपूत राज्यों में भी कुछ अंग्रेजी भाषा की तरफ रुझान हुआ किन्तु उनके धार्मिक, व्यापारिक, प्रशासनिक कार्य उनकी परम्परागत संस्कृत व स्थानीय भाषाओं में पूर्ववत चालू थे। इस संबंध में लेखक ने जयपुर राज्य के सवाई रामसिंह (1863 ई.) की आज्ञा से पंडित बंशीधर द्वारा लिखित 'विद्यार्थियों के लिए प्रथम पुस्तक' का जो दृष्टांत प्रस्तुत किया है, वह जीवन से जुड़े विविध विषयों का व्यावहारिक ज्ञान कराने का परम्परा-पोषित महत्वपूर्ण साक्ष्य है।

राजस्थान में यदि परम्परागत शिक्षा प्रणाली की परम्परा एक अंतधारा के रूप में राजपूती राज्यों में न चलती होती तो ब्रिटिश हकूमत के दौरान रही उपेक्षा से तत्कालीन प्रजा और शासकों को बहुत नुकसान होता, जो आगे चलकर राजस्थान को उठाना भी पड़ा।

पुस्तक के आठ अध्यायों में से प्रथम दो में लेखक ने विस्तार से इस तथ्य को उजागर किया है कि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व न तो राजस्थान निरक्षर अथवा शिक्षा-शून्य था, न ही यहां शिक्षा में किसी एक जाति अथवा वर्ग का एकाधिकार था। इस दृष्टि से पुस्तक के 'राजस्थान में शिक्षा संबंधी अभिलेख – स्रोत' और 'राजस्थान में परम्परागत शिक्षा प्रणाली' नामक अध्याय पठनीय हैं। देश के अन्य राज्यों की भांति राजस्थान में राजपूत राजाओं की सत्ता के साथ ही साथ अंग्रेजी सत्ता भी हावी थी। एक तरह से यहां के निवासियों को दो प्रकार के शासन तले जीना था। परम्परागत शिक्षा प्रणाली में यहां संस्कृत व फारसी का विशेष स्थान था। मंदिरों-मदरसों में धार्मिक शिक्षा अथवा शास्त्र चर्चा की दृष्टि से इनके अध्ययन की अनौपचारिक व्यवस्था थी। अंग्रेजी शिक्षण से इनका महत्व क्रमशः कम होने लगा। मुस्लिम समुदाय, पुराने मुंशी परिवार तथा राजकाज में रुचि लेने वालों के लिए फारसी के अध्ययन का आग्रह बना रहा।

राजाओं पर अंग्रेज शासकों का सीधा शासकीय दबाव होने से उन्हें औपचारिक शिक्षा की व्यवस्था मजबूरन करनी होती थी, और इसके लिए धन की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी। फिर ईसाई मिशनरियों की भी राज्यों में उपस्थिति बढ़ने लगी और आधुनिक शिक्षा प्रणाली लागू करने का दबाव बढ़ा। फिर भी राजस्थान के अनेक राज्यों में राजाओं ने अपने ढंग से स्थानीय भाषाओं में अनौपचारिक शिक्षा को जारी रखा और उच्च अध्ययन के लिए संस्थान भी खोले। अंग्रेजी शिक्षा ने राजाओं की भी शिक्षा की और राजस्थान में अनेक पब्लिक स्कूलें, कॉलेज और विश्वविद्यालय खुले। विशेष रूप से वुड डिस्पैच और हंटर कमीशन की क्रियान्विति के बाद यहां का परिदृश्य-भी बदला। इस दृष्टि से इस पुस्तक के 'परम्परागत संस्कृत और फारसी शिक्षा की दशा', 'राज्यों में अभिजात वर्ग की शिक्षा व्यवस्था', 'शिक्षा के प्रति शासकों का दृष्टिकोण', 'अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार', 'ईसाई मिशनरी और शिक्षा प्रसार', 'आर्य समाज और अन्य समाज सेवी संस्थाओं का योगदान' नामक अध्यायों में विस्तार से पुराने व नये शिक्षा प्रसार को रेखांकित किया गया है।

राजपूत राज्यों में पहले वहां के शासक व सामंत अपनी संतानों

को घरों पर ही परम्परागत विधि से प्रचलित शिक्षा दिलवाते थे, लेकिन अंग्रेजी सत्ता के प्रभाव के बाद अनेक राज्यों के शासकों ने अंग्रेजी शिक्षा पद्धति पर आधारित शिक्षण संस्थाएं खोली। अजमेर का मेयो कॉलेज ऐसे शासकों की संतानों के निमित्त ही खोला गया। इसके बावजूद उदयपुर, बांसवाड़ा व जोधपुर के शासक हिन्दू शास्त्रों में वर्णित परम्परागत शिक्षा पद्धति के पक्षधर बने रहे। उनके द्वारा स्थापित पोथीखाने उच्च अध्ययन व शोध में सहायक बने।

मिशनरियों ने अजमेर-मेरवाड़ा को केन्द्र बनाकर जयपुर, उदयपुर, अलवर, जोधपुर, कोटा आदि राज्यों में अपने शैक्षिक संस्थान खोले, जहां निम्न वर्ग के बालकों व महिलाओं को शिक्षित करने का प्रावधान था। गांव-गांव तक यह चेतना पहुंची। लगभग इसी समय ईसाई मिशनरियों की गतिविधियों की प्रतिक्रिया स्वरूप आर्य समाज द्वारा एंग्लो-वैदिक कॉलेज व शिक्षण संस्थाओं का प्रसार किया गया।

सन् 1907 से 1921 का काल स्वतंत्रता आन्दोलन के कारण जन-जागरण का काल रहा, इस कारण शिक्षा में काफी विस्तार हुआ। वैसे उस समय के शासक वर्ग ने राजनीतिक कारणों से माध्यमिक व उच्च शिक्षा के प्रसार को रोकने की बहुत कोशिश की। सन् 21 के बाद शिक्षा का कुछ नियंत्रण भारतीयों के हाथ में आ गया था और कुछ इसलिए कि स्वतंत्रता आंदोलन के गति पकड़ने से जन-चेतना का प्रसार भी बढ़ गया। विवेक सम्पन्न व दूरदर्शी रियासती शासकों ने भी आने वाले समय की आहट को भांपते हुए लोक शिक्षण में रुचि ली।

गांधी जी के भारत आगमन और स्वाधीनता आन्दोलन में अग्रिम भूमिका बना लेने के बाद तो सामाजिक, शैक्षिक सुधारों, ग्रामोत्थान और जन-जन की शिक्षा का सिलसिला ही शुरू हो गया। लेखक ने इन तमाम सकारात्मक विकासगामी प्रयासों का ईमानदारी के साथ विवरण प्रस्तुत किया है। कुछ नये आकलन और विवचेन भी पहली बार सामने आए है, अतः यह एक महत्वपूर्ण पठनीय-मननीय दस्तावेज बन गया है।

पुरानी जेल सदर के पास,
बीकानेर - 334001

रामनरेश सोनी

आमुख

राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में राजस्थान के आधुनिक काल 19–20 वीं सदी के स्रोतों का अवगाहन करते समय राजस्थान के शैक्षिक इतिहास के स्रोतों की बहुतायत देखकर इच्छा हुई कि उस पर भी कुछ लिखा जाये, किन्तु राजस्थान के सामाजिक व आर्थिक इतिहास में कुछ अधिक रुचि होने के कारण उस समय शैक्षिक स्रोतो की तरफ ध्यान नहीं दे सका।

एक लम्बे अन्तराल के बाद मेरे गुरु राजस्थान विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के अध्यक्ष डॉ. एम.एस.जैन के माध्यम से मुझे राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर का एक संदेश मिला कि आधुनिक राजस्थान की शिक्षा का एक संक्षिप्त इतिहास लिखकर भिजवायें, जिसका एक बड़े ग्रन्थ में उपयोग किया जाकर प्रकाशित किया जायेगा। अपने गुरु के आदेशानुसार मैंने येनकेन प्रकारेण गौण एव कुछ प्राथमिक स्रोतो को आधार बनाकर राजस्थान के शैक्षिक इतिहास पर एक संक्षिप्त मोनाग्रॉफ तैयार करके भिजवा दिया। किन्तु कुछ कारणों से वह योजना आगे नहीं बढ़ सकी और मेरे द्वारा भेजा गया आलेख मुझे लौटा दिया गया। उसके पश्चात यह आलेख मेरे पास लम्बे समय तक पड़ा रहा। अब अपने अनेक मित्रों के आग्रह पर मैंने इसे प्रकाशित करवाने का निश्चय किया है।

वैसे अब तक राजस्थान के शैक्षिक इतिहास को लेकर अनेक बड़े एवं विस्तृत शोध–ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं, जिनका कुछ उपयोग उनके नाम के उल्लेख के साथ इस ग्रन्थ में भी किया गया है। किन्तु मोनाग्राफ के रूप में इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ कम ही देखने को मिलते हैं। आठ अध्यायों में लिखे इस ग्रन्थ में राजस्थान में स्वतन्त्रता पूर्व शिक्षा के विभिन्न आयामों के विकास पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया है। किन्तु इसमें भी मैंने राजस्थान मे ग्रामस्तर से लेकर शहरी क्षेत्र तक जो सदियों से परम्परागत अनौपचारिक शिक्षा व्यवस्था गतिमान थी, उस पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इसके लिए मैंने अन्य स्रोतों के अतिरिक्त तत्कालीन परम्परागत शिक्षा से जुड़े परिवारों के सदस्यों

के संस्मरणो का भी उपयोग किया है। साथ ही भारतीय विद्या मन्दिर शोध प्रतिष्ठान, हिन्दी विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, बीकानेर, व आचार्य तुलसी राजस्थानी शोध संस्थान, अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में विषय से सम्बन्धित सामग्री चयन मे जो सहयोग मिला उसके लिये मैं उनके पदाधिकारियों का आभार माने–बगैर नहीं रह सकता। सर्वश्री प्रो. घनश्याम आत्रेय, डॉ किरण नाहटा व श्री जानकी नारायण श्रीमाली के सस्मरण भी मेरे लिये उपयोगी रहे। यह मोनोग्राफ शैक्षिक जगत के लिये उपयोगी होगा। इस ग्रन्थ की भूमिका मेरे सहयोगी सुप्रसिद्ध शिक्षाविद् श्री रामनरेश सोनी ने लिखकर इस पुस्तक की उपयोगिता को और बढा दिया है। इस ग्रन्थ को कम्प्यूटरीकृत करने के लिये श्री शंकर सिंह राजपुरोहित साधुवाद के पात्र हैं, साथ ही कलासन प्रकाशन के मनमोहन कल्याणी को ग्रन्थ प्रकाशन के लिये धन्यवाद नही दूगा तो कृतघ्नता होगी।

अंत में इस अध्ययन के लिये सामग्री जुटाने मे मुझे राजस्थान राज्य अभिलेखागार बीकानेर के मेरे सहयोगियो ने जो सहायता दी उसके लिये मैं उनका आभार प्रकट करता हूँ।

गिरिजाशंकरशर्मा

अनुक्रम

राजस्थान में शिक्षा संबंधी अभिलेख-स्रोत

राजस्थान आज जिस भौगोलिक स्वरूप में विद्यमान है, उसका अतीत शिक्षाशून्य नहीं रहा। यद्यपि यह सही है कि भारतीय इतिहास के राजपूतकाल (700 से 1200 ई. सन्) के पूर्व, इस क्षेत्र के शैक्षिक वातावरण पर वांछित स्रोतों के अभाव मे, इस विषय पर विद्वानों ने कोई उल्लेखनीय प्रकाश डालने का प्रयत्न नहीं किया, किंतु राजपूतकाल मे राजस्थान के विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों पर तत्कालीन राजपूत जाति के प्रतिहार, गुहिल, चौहान, परमार व भाटी राजवंशों का शासन रहा। उस काल मे यहां की शैक्षिक प्रगति की जानकारी मिलनी प्रारंभ हो जाती है। उक्त राजवंशों की इस क्षेत्र में अवस्थित राजधानिया ही शिक्षा–केद्र के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुकी थीं। भीनमाल, चित्तौड़, मेडता व बांसवाडा (अर्थुना) के शिक्षको का शैक्षिक क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान था।[1]

भीनमाल संस्कृत जगत् के उद्‌भट विद्वान् महाकवि माघ एवं महान् गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त की कर्मस्थली बना हुआ था। इन दोनों ने जिन ग्रंथों का निरूपण किया, वे तत्कालीन शिक्षा के विकास की कहानी कहने मे सक्षम हैं। ब्रह्मगुप्त द्वारा रचित ब्रह्म सिद्धांत, खडखाड्य व ध्यानग्रह नामक ग्रथ गणित विज्ञान की प्रगति पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।[2] इसी भांति ठीक इसी समय चित्रकूट (चित्तौड) में हरिभद्रसूरि जैसे जैन विद्वान् अनेकांतवाद को लेकर उसके प्रचार-प्रसार में व्यस्त थे। राजपूतकाल के विद्वानो ने उपर्युक्त ग्रथों सहित अन्य अनेक साहित्यिक ग्रंथों को आधार बना कर राजस्थान की दसवीं सदी की शिक्षा–व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

डॉ. दशरथ शर्मा ने जयनक कृत पृथ्वीराजविजय एवं पेटर्सन द्वारा संपादित सारंगपद्धति एवं सिद्धर्षि सूरी कृत उपमितिभवप्रपंचकथा को बालको की प्रारंभिक व उच्च शिक्षा, दोनो के लिए आधार ग्रंथ माना है। इनमे उपमितिभवप्रपंचकथा में उस काल की प्रारंभिक शिक्षा आठ वर्ष से प्रारंभ होने,

समाज के लोगों द्वारा विद्या-मठों में छात्रों के लिए निःशुल्क भोजन व शिक्षा की व्यवस्था में योग देने एवं शिक्षा का पाठ्यक्रम छात्रों की भावी आवश्यकतानुसार निर्धारित करने आदि के विस्तृत वर्णन का उल्लेख हुआ। इसी प्रकार एक विदुषी डॉ. शांतारानी शर्मा ने प्राकृत भाषा के विद्वान उद्योतनसूरि कृत 'कुवलयमाला' और हरिभद्रसूरि कृत 'समराइच्चकहा' ग्रंथों को राजस्थान की दसवीं सदी में छात्रों के शिक्षा-प्रबंध, पाठ्यक्रम निर्धारण आदि की जानकारी के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना है।

मुस्लिमकाल में राजस्थान में मुस्लिम दरगाहों के खादिमों के बच्चों की शिक्षा-व्यवस्था की अनेक स्रोतों से जानकारी प्राप्त होती है। इस व्यवस्था को सुचारु ढंग से चलाने के लिए मदरसों में मौलवी लोग नियुक्त किए जाते थे। आम मुस्लिम बच्चे मस्जिदों के मदरसों में शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। 12वीं, 13वीं सदी के पश्चात्, विशेष रूप से मुगलकाल में, राजस्थान के शैक्षिक स्रोत भी बड़ी मात्रा में उपलब्ध होते हैं। कवि जयसोम कृत 'कर्मचन्द्रवंशोत्कीर्तनकंकाव्यम्' में राजपूत राज्यों में जैन उपासरों में विद्या-अध्ययन के दौरान अनेक विषयों के साथ तर्कशास्त्र विषय भी विशेष रूप से पढ़ाए जाने का उल्लेख मिलता है। इसी भांति रणछोड़ भट्ट कृत 'अमरकाव्यवंशावली' व सदाशिव कृत 'राजरत्नाकर' में तत्कालीन शिक्षा-पद्धति में विभिन्न प्रकार की परीक्षा-पद्धतियों पर प्रकाश पड़ता है।

मुगलकाल मे सभी राजपूत राज्यों में मुस्लिम शिक्षा-पद्धति का व्यापक असर पड़ा था। पूर्व मे राज्यों में धार्मिक, व्यापारिक व प्रशासनिक आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ था और उक्त शिक्षा का माध्यम मुख्य रूप से राजस्थानी की स्थानीय उपभाषाएं थीं, किंतु धीरे-धीरे उसमे फारसी भाषा की शब्दावली का प्रभुत्व बढ़ने लगा जो अठारहवीं सदी के अंत तक बना रहा, यद्यपि धार्मिक शिक्षा अभी तक संस्कृत भाषा मे ही दी जाती रही थी। धार्मिक व व्यापारिक कार्य की शिक्षा का प्रबंध निजी क्षेत्र में ही प्रचलन मे था। राज्य की शिक्षा-व्यवस्था मे भागीदारी नगण्य ही थी। किन्तु उन्नीसवीं सदी में राज्यो में अंगरेजी शासन के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षा-व्यवस्था में एक व्यापक बदलाव आता है और शिक्षा में निजी भागीदारी के साथ राज्य स्तर पर भी शिक्षण कार्य को बढ़ावा देना प्रारंभ होता है और यह क्रम बींसवी सदी के प्रारंभ तक काफी विकसित अवस्था में दिखाई देने लगता है।

राजस्थान में इस तथ्य की जानकारी के लिए अभिलेख-स्रोतो का

अभाव नहीं है। मुगलसत्ता के ह्रास के साथ राजस्थान के राजपूत राज्यो में भी अंगरेजी प्रभाव बढना प्रारंभ हो गया था। किंतु यह तथ्य उल्लेखनीय है कि राजपूत राज्यों में धार्मिक, व्यापारिक व प्रशासनिक कार्य उनकी परंपरागत संस्कृत व राजस्थानी भाषा में पूर्ववत् चालू थे। राज्यों के शासक उसी परंपरागत शिक्षा–पद्धति एवं उसकी भाषा को निरंतर प्रोत्साहित कर रहे थे। इसके प्रमाण वर्तमान मे सरकारी व गैर–सरकारी स्तर राजस्थान के अनेक राज्यों मे निजी एवं राज्य शासन के सहयोग से लीथोग्राफ में प्रकाशित पुस्तको में व्यापक रूप में उपलब्ध होते हैं। जयपुर राज्य के वि. सं. 1920 (1863 ई.) मे सवाई रामसिंह की आज्ञा से पंडित बंशीधर की लिखी "विद्यार्थियों के लिए प्रथम पुस्तक" लिथोग्रॉफ में प्रकाशित हुई। इसमें जयपुर राज्य मे परंपरागत लगभग हर विषय का व्यावहारिक ज्ञान करवाने का प्रयत्न किया जाता था। 18वीं और 19वीं सदी की परंपरागत शिक्षा–पद्धति को समझने के लिए यह पुस्तक अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।[6] यद्यपि इस पुस्तक के आवरण व अंदर के पृष्ठो पर इसे विद्यार्थी की प्रथम पुस्तक के रूप में संबोधित किया हुआ है, किंतु इसके अंदर जिन विषयों की जानकारी दी गई है, उनमे से कुछ को छोड़, तत्कालीन जयपुर राज्य के विभागो मे रोजमर्रा के काम मे आने वाली बातों का भी समावेश किया गया लगता है। ऐसे में यह पुस्तक राज्य मे किसी भी व्यवसाय मे जीवनयापन करने वाले नए व्यक्ति के लिए भी उपयोगी रही है। ये सभी विषय राज्यो में तत्कालीन पाठशालाओं/पोसालों में विभिन्न स्तर के बालकों को पढ़ाये जाने वाले विषयों की ओर ध्यान इंगित करते है।

भारत की अंगरेज सरकार के साथ सहायक संधियां हो जाने से राजस्थान के इन राजपूत राज्यों में बढते अंगरेजी प्रभाव से शिक्षा में सुधार के प्रयत्न हुए और पश्चिमी शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा, परतु इसके बावजूद राज्य सचिवालयों में शिक्षा संबंधी स्वतंत्र विभाग स्थापित नहीं हो सके और शिक्षा को एक गौण विषय मान कर राज्य के अन्य महत्त्वपूर्ण मंत्रालयो के माध्यम से इसका संचालन होता रहा। अधिकांश राज्यो में गृह विभाग (होम डिपार्टमेंट), राजस्व विभाग (रैवेन्यू डिपार्टमेंट) व महकमा-खास विभागों मे शिक्षा संबंधी मामले निपटाए जाते रहे। शिक्षा में नीति संबंधी मामले मुख्य रूप से राज्य के महकमा-खास विभाग के अधीन ही निपटाए जाने की व्यवस्था थी। किंतु बीसवीं सदी के प्रथम तीन दशकों के पश्चात् राज्यो में पुनर्गठित सचिवालयों मे शिक्षा को महत्त्व देते हुए कुछ राज्यो में इसके स्वतंत्र विभाग स्थापित हुए।

इस प्रकार राजस्थान राज्य अभिलेखागार में सचिवालय स्तर पर होम, रेवन्यु, हैल्थ एवं एज्युकेशन तथा महकमा-खास की पत्रावलियां शिक्षा संबंधी जानकारी के लिए काफी उपयोगी हैं।[7]

उपर्युक्त अभिलेख शृंखलाओ के अतिरिक्त राजस्थान मे शैक्षिक विकास की जानकारी के लिए भारत की अंगरेज सरकार द्वारा भारत के विभिन्न क्षेत्रों की शैक्षिक इतिहास संबंधी रिपोर्ट व राज्यो की एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट, सेंसस रिपोर्ट व गजेटियर आदि के साथ मेडिको-टोपोग्राफिकल एकाउंट राजस्थान के राज्यों में परपरागत देशज शिक्षा-पद्धति के द्वारा दी जाने वाली शिक्षा, तत्कालीन प्राथमिक स्कूल व उच्च शिक्षा के केंद्रों के संबंध मे अच्छी जानकारी प्रस्तुत करते हैं।[8] इनके साथ ही मिशनरियो द्वारा दी जाने वाली शिक्षा की जानकारी के लिए स्काटिश प्रेसविट्रेरियन मिशन आदि चर्च की एनवल रिपोर्ट्स व उनके प्रशासनिक इतिहास अत्यत ही उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार आर्यसमाज द्वारा खोले गए स्कूल व कॉलेजो की भी विस्तृत जानकारी आर्यसमाज के वार्षिक प्रतिवेदनों एव इतिहास आदि में आसानी से उपलब्ध हो जाती है। इसी के साथ राजस्थान के विभिन्न भागो मे गैर–सरकारी स्तर की परंपरागत शैक्षिक संस्थाओं एवं संगठनों की गतिविधियो से जुडे अभिलेख भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते है। इनसे तत्कालीन परंपरागत शिक्षा-पद्धति पर भी प्रकाश पडता है। उपर्युक्त प्रकाशित सामग्री के साथ राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली मे उन्नीसवीं सदी मे भारत के परिप्रेक्ष्य मे शिक्षा–व्यवस्था की जानकारी के लिए व्यापक मूल अभिलेख सामग्री उपलब्ध है। इसमें तत्कालीन राजपूताना के राजपूत राज्यों से संबधित शिक्षा सबधी आंकडे उपलब्ध होते हैं। इसके लिए राष्ट्रीय अभिलेखागार मे होम (पब्लिक), होम (एज्युकेशन), फोरिन पोलिटिकल, रेवन्यू व शिक्षा विभागो की कसल्टेशन व प्रोसीडिंग्स फाइले उल्लेखनीय है।[9]

इनके अतिरिक्त भारत के शैक्षिक विकास पर उन्नीसवी सदी से बीसवी सदी के पांच दशको के मध्य अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तके व शोध-प्रबध प्रकाशित हुए। इसी क्रम मे राजस्थान के सबंध मे एक महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबध डॉ. जी सी वर्मा का 'मॉडर्न एज्युकेशन, इट्स ग्रोथ एंड डवलपमेट एन राजस्थान'[2] (1818 टू 1983), प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार राजस्थान मे शिक्षा संबंधी स्रोतो मे राजस्थान के विभिन्न राज्यो के सचिवालयो व अधीनस्थ कार्यालयो मे निर्मित अभिलेखो (पत्रावलियों)

की अपेक्षा गौण स्रोतो का महत्त्व काफी अधिक है। इनमें शिक्षा संबंधी वे सूचनाएं उपलब्ध हैं जो राजकीय दस्तावेजो में उपलब्ध नहीं हैं।

राजस्थान में परंपरागत शिक्षा-पद्धति व आधुनिक शिक्षा-पद्धति की शुरुआत, धर्म–प्रचारकों द्वारा शिक्षा के विकास के प्रयत्न, यथा चर्च एवं आर्यसमाज की भूमिका, शासकों के परिवारों की शिक्षा आदि पर इन गौण स्रोतों से भी व्यापक जानकारी मिलती है। इस आलेख मे उपुर्यक्त दोनो प्रकार के स्रोतो के आधार पर राजस्थान मे शिक्षा संबंधी विकास की एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है।

संदर्भ

1. डॉ दशरथ शर्मा, 515-17
2. डॉ दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दी एजेज पार्ट (फर्स्ट), पृ 68 पब्लिशर/राजस्थान स्टेट आर्काइब्ज, बीकानेर, 1966
3. वही, 513, उपमितिमवप्रपंचकथा, पृ. 303
4. वही, 514, शांता रानी शर्मा, सोसायटी एंड कल्चर इन राजस्थान, सी. ए.डी. 700-900, पृ. 228-230, प्रगति पब्लिकेशन (1986), लाईब्रेरी रोड, आजाद मार्केट, नई दिल्ली
5. डॉ. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान थ्रू दी एजेज, पार्ट-II (फ्रोम 1300-1761 एडी), पृ. 28, 341, 350 (राजस्थान स्टेट आर्काइब्ज) 1990
6. श्री मत्महाराजाधिराज राजे श्री सवाई रामसिंहजी बहादुर की आज्ञा से विद्यार्थी की प्रथम पुस्तक छपवाई पंडित बंसीधर ने जयपुर के छापेखाने मे (मिति कार्तिक सुदी 13, सवत् 1920) पृ 1-171
7. (i) प्रिलिमिनेरी गाईड टू दी राजस्थान स्टेट आर्काइब्ज (प्रकाशक-राजस्थान आर्काइब्ज, बीकानेर 1972) में राजस्थान के सभी बडे राज्यो के सचिवालय की पत्रावलियों मे उक्त विभागो की वर्गीकृत पत्रावलियो की सूचना उपलब्ध है। पृ 7-38

   (ii) केन्द्र शासित अजमेर कमीश्नरी की शिक्षा संबंधी पत्रावलियां इसी गाईड में देखी जा सकती हैं।

8. इनमें निम्न रिपोर्ट राजस्थान मे 19वीं सदी मे राज्यों में ग्रामीण और कस्बाई क्षेत्रों में प्राथमिक शिक्षा पर विस्तृत जानकारी प्रस्तुत करती है।

(i) बुच–रिपोर्ट ऑन दी विलेज स्कूलस् इन अजमेर (1855)

(ii) जयपुर स्टेट, रिपोर्ट ऑन पब्लिक इस्ट्रेक्शन इन फ्रोम 1873 आनवर्डस

(iii) नावल्टन, ए.टी. रिपोर्ट ऑन दी कन्डिशन ऑफ एडूकेशन इन दी जोधपुर स्टेट (1914)

(iv) रीड, एफ.एल, रिपोर्ट ऑन दी स्टेट ऑफ एडूकेशन इन दी नेटिव स्टेट्स ऑफ राजपूताना (1905)

(v) रीड, एच.एस रिपोर्ट ऑन इडिजीनस एजूकेशन एण्ड वर्नाकूलर स्कूलस (1850–51)

(vi) भट्टजी, के.एम, रिपोर्ट ऑन दी एक्सपेन्शन ऑफ प्राईमरी एजूकेशन इन मारवाड (1920)

9 राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में होम (पब्लिक) कंसल्टेशन व प्रोसीडिंग, होम (एज्युकेशन) कंसल्टेशन व प्रोसिडिग, फोरन पोलीटिकल कन्सलटेशन व प्रोसीडिग, रेवन्यू, एग्रीकल्चर कंसल्टेशन व प्रोसीडिंग व एज्युकेशन, कंसल्टेशन व प्रोसीडिग अभिलेख शृंखलाएं तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था की जानकारी के लिए उल्लेखनीय हैं।



राजस्थान में परंपरागत शिक्षा-प्रणाली

राजस्थान में परंपरागत शिक्षा-प्रणाली की अविच्छिन्न परंपरा रही है। प्रदेश मे आवागमन की असुविधा और यहां के निवासियों की भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा इसका मूल कारण है। किसी भी केंद्रीय सत्ता ने यहां के अंदरूनी जीवन में हस्तक्षेप नहीं किया। बाहरी सत्ता को भी यहां हस्तक्षेप का बहुत कम मौका मिला, इसलिए स्थानीय शासको के संरक्षण में परंपरागत शिक्षा-प्रणाली निर्बाध रूप से फलती-फूलती रही।

ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदय के लिए विद्याध्ययन के रूप मे राजस्थान मे शिक्षा की परंपरा 18वीं सदी तक विद्यमान थी। प्राचीन काल से वेद, शास्त्र आदि संस्कृत विद्या में प्रवीण विद्वान् अपने शिष्यों को अपने समान ही प्रवीण और शास्त्र-निष्णात बनाने का सतत कार्य करते थे और समाज उन विद्वानों का यथोचित सम्मान करता रहा। समय-समय पर शासको ने भी इस प्रकार से अध्ययन-अध्यापन में लगे लोगो को प्रतिष्ठा दी और उन्हे पुरस्कृत किया, जिससे यह गुरु-शिष्य परंपरा राजस्थान में पुरातन समय से निर्बाध चलती रही।

स्व. डॉ. दशरथ शर्मा के लेख 'दसवीं शताब्दी मे राजस्थानी शिक्षा--पद्धति' मे मध्यकालीन शिक्षा के विषय में उसका सामान्य विवरण दे दिया गया है।[1] इस लेख मे डॉ. शर्मा ने बताया है कि दसवीं शताब्दी में यहां शिक्षा का आरंभ 'सिद्धि मातृका' से होता था, जिसका विकृत रूप 19वीं सदी के आरंभ तक राजस्थान में 'सीधो वर्णा' की परिपाटी के रूप में विद्यमान था। उस समय लिपिज्ञान, गणित, व्याकरण, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ज्योतिष, अष्टांग, महानिमित्त, छंदशास्त्र, नृत्य, गीत, चित्र, हस्ति विद्या, धनुर्वेद, धातुवेद, नर-नारी लक्षण, पच्छेद्यादि शिक्षा पद्धति के मुख्य विषय थे।

डॉ. शर्मा के आधार ग्रंथ 'उपमितिभवप्रपंचकथा' की हस्तलिखित प्रति

मौजूद है। उसके लेखक सिद्धर्षि सूरि ने लिखा है कि धनी लोग विद्यामठो की स्थापना करते थे। आजकल के महाविद्यालयों की तरह विद्यामठों में आवासीय शिक्षाप्रबंध रहते थे। उनके विद्यार्थियो को निःशुल्क शिक्षा और मुफ्त भोजन की प्राप्ति होती थी। गुरु का सर्वत्र आदर होता था। आधुनिक शिक्षा में गुरु के आसन पर शिष्य बैठ जाता है, किंतु दसवीं सदी में ऐसा करना महापाप समझा जाता था। सिद्धर्षि सूरि लिखते हैं कि एक राजकुमार रिपुदारण गुरु के आसन पर बैठ गया तो उसके सहाध्यायी विद्यार्थियों ने उसे कहा- 'अरे रे कुमार! तुमने यह अच्छा नहीं किया। यह गुरु-आसन वंदनीय है। इस पर बैठना आप के लिए उचित नहीं है। इस पर बैठने से कुल कलंकित होता है, अपयश के बाजे जोर से बजने लगते हैं। पाप बढ़ता है। आयु का क्षरण होता है।'

उस समय गुरु का अपमान सभी को असह्य होता था। राजा, प्रजा, सभी गुरु को परम सम्माननीय समझते थे। गुरु जितने स्वाभिमानी होते थे, छात्र उतने ही गुरुभक्त होते थे। गुरु-शिष्य संबंध पिता-पुत्रवत् होता था। यह पारस्परिक स्नेह उन्नीसवीं सदी तक ज्यों-का-त्यों विद्यमान था। इस सदी के इन पारस्परिक संबंधो को लेकर आज भी अनेक किंवदंतियां प्रचलन में हैं।

मध्यकालीन राजस्थान में शिक्षा-प्रणाली का स्वरूप व्यावसायिक नहीं था और प्रजा की शिक्षा का दायित्व भी शासक पर नहीं था। संपूर्ण शिक्षा सत्य की खोज मे पारस्परिक रूप से सहभागी थी। शिक्षा के लिए छात्र को कोई भुगतान नहीं करना पडता था। गुरु-शिष्य दोनो का निर्वाह धनी-मानी लोगो द्वारा दी जाने वाली सहायता राशि से हो जाता था। इस प्रकार शिक्षा स्वतंत्र थी। उच्च शिक्षा का माध्यम संस्कृत था जिसमें संपूर्ण धर्मनिरपेक्ष ज्ञान प्राप्त था।

मस्जिदों मे मौलवी और पाठशालाओ में पंडित संपूर्ण जनसंख्या के छोटे-से-छोटे हिस्से को शिक्षा देते रहे। यहां तक कि एक गुरु से एक शिष्य भी गहनतम उच्च शिक्षा पाने का सुयोग पा लेता। प्राथमिक शिक्षा के लिए ग्रामीण पाठशाला और मदरसे संपूर्ण क्षेत्र में बिखरे हुए थे। उच्च हिंदू शिक्षा विद्यालयो, आश्रमो, चतुष्पदी आदि संस्थानो मे दी जाती थी जिनमें ब्राह्मण अत्यंत सादा जीवन व्यतीत करते हुए विधि, कर्मकांड, अध्यात्म और दर्शन का अध्ययन करते थे। शेष जातियों के लिए धार्मिक आधार पर उच्च शिक्षा निषिद्ध थी। साधारण जनता के लिए कहीं-कहीं लेखन, पठन और प्रारंभिक गणित (वाणिज्य) की पोसवाल होती थी जहां प्राय. व्यापारी-पुत्र ही पढते थे। निम्न

जातियां, कृपक और स्त्रियां शिक्षा से वंचित रहते। शिल्पजीवी उच्च शिक्षा पर ब्राम्रणों का एकाधिकार था और इस शिक्षा के कारण गुरुजनों के प्रति अभिभावक, राजा और प्रजा में पूर्ण श्रद्धाभाव रहता था। जैन उपाश्रयों में जैन धर्मग्रंथों की उच्च शिक्षा दी जाती थी, किंतु वह जैन श्रावकों तक सीमित थी और उनका सारा व्यवहार भी जैन समाज तक सीमित था।

उत्तर–मध्य युग मे उपरोक्त स्थिति के लिये केवल धार्मिक कारण ही जिम्मेवार नहीं थे अपितु उसमें आर्थिक कारण भी जुड़ गये थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस समय राजस्थान के सभी राज्यो में सामन्ती व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य में हिन्दू व मुस्लिम दोनो जातियों के लोग रहा करते थे। राज्यों की भौगोलिक स्थिति के कारण उक्त दोनों जातियों की कहीं किसी से ज्यादा व कहीं कम जनसंख्या का फर्क बना रहता था। हिन्दुओ में ब्राह्मण, वैश्य, राजपूत व कहीं–कहीं कायस्थ उच्च जातियां थी। वहीं शिल्पजीवी जातियाँ निम्न श्रेणी की मानी जाती थी। किन्तु जनसंख्या की दृष्टि से इन जातियो का प्रतिशत उच्च जातियों के लोगों से काफी बड़ा था। ठीक इसी तरह मुस्लिमों में सैयद, शेख व मुगल जातियाँ अपने को अन्य मुस्लिम जातियों से उच्च जाति होने का भाव रखते थे। किन्तु शिल्पजीवी जातियां और मुख्य रूप से कृषोपजीवी जातियां अपनी आजीविका चलाने के लिये अपने बच्चों को शिक्षा दिलवाने की अपेक्षा उनके छुटपन से ही मेहनत मजदूरी कराने में ही रुचि रखती थी। उच्च जाति के लोग अपने वंशानुगत कार्य करने के लिए शिक्षा की आवश्यकता महसूस किया करते थे। इस प्रकार राजस्थान के प्रत्येक राज्य में अंगरेजी काल के आगमन से पूर्व शिक्षा की लगभग यही स्थिति बनी हुई थी। इसी के परिणाम स्वरुप राजस्थान मे ग्राम, कस्बाई अथवा शहरी क्षेत्र में जो भी *पाठशाला व मुस्लिम मकतब आदि खुले। ये उच्च वर्गों की जातियों के बच्चों की* आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर ही खोले जाते थे। कहने का तात्पर्य यह है *कि जहाँ कहीं भी पाठशाला आदि खोली जाती थी वह अपने चारों ओर के क्षेत्र* की परिस्थिति और आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर अपनी पाठशालाओं और मकतबों में पाठ्यक्रम निर्धारित कर अध्यापन कार्य करवाया करते थे। राजस्थान मे उक्त परम्परागत शिक्षा व्यवस्था उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अंग्रेजी संरक्षण मिलने के बाद भी यथावत् बनी रही। किन्तु पूर्व जो कृषोपजीवी और शिल्पजीवी जातियां अपने बच्चो को शिक्षा दिलवाने मे रुचि नहीं लेती थी, वे भी धीरे–धीरे राज्य की सामान्य पाठशालाओं, पोसालों एव मकतबों में अपने बच्चो को भी

सामान्य शिक्षा दिलवाने मे रुचि लेने लगी थी। वे भी चाहती थी कि उनके बच्चे भी रोजमर्रा की जिन्दगी मे अपना कार्य सम्पन्न कर सके उतनी शिक्षा उनको मिल जाएं। पाठशालाएं दो प्रकार की होती थीं। एक शास्त्रीय पाठशाला जिसमें संस्कृत माध्यम से शिक्षा दी जाती थी, जिसमें लघु कौमुदी अथवा सारस्वत चद्रिका से अध्ययन आरंभ होता और व्याकरण सीखने के वाद छात्र को रुचि के अनुसार ज्योतिष, कर्मकांड और वैद्यक आदि की शिक्षा दी जाती थी। वेदांग और साहित्य आदि अधिक ऊंची शिक्षा के लिए छात्र काशी भी जाते थे। दूसरे प्रकार की सामान्य पाठशाला मे महाजनी व सामान्य शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियों को गिनती, पहाडे, जोड-बाकी-गुणा-भाग, बाणिका, हिसाब-किताब के साथ हिंदी व मुडिया की शिक्षा दी जाती थी।

हिन्दू जाति की उक्त दो प्रकार की पाठशालाओ की भांति मुस्लिम जाति के लोग अपने बच्चो को मकतबो में भेज दिया करते थे। जहाँ उन्हे उर्दू और फारसी एक साथ एक ही मकतब मे पढाने की व्यवस्था होती थी। वस्तुत प्रारंभ मे जो अक्षर ज्ञान इन मकतबों में करवाया जाता था वह उर्दू और फारसी मे एक समान ही हुआ करता था। बालकों को इन मकतबों मे व्यावहारिक शिक्षा तो खूब दी जाती थी किन्तु पाठ्यक्रम में हिसाब--किताब कुछ नहीं सिखलाया जाता था।

ये दोनो प्रकार की पाठशालाएं राजस्थान मे 19वीं सदी तक सैकडो की संख्या में संचालित थीं। जयपुर नगर के संस्थापक महाराजा सवाई जयसिह ने स्कूलों के निरीक्षण हेतु एक अधीक्षक नियुक्त कर रखा था जो कर्नल ब्रुक (पोलिटिकल एजेट, जयपुर) के अनुसार सन् 1813 तक विद्यमान था। मोटे अंदाज से सन् 1864 ई मे राजस्थान में 500 से अधिक शिक्षा परपरागत की स्कूले संचालित थीं। जोधपुर मे 94 स्कूले थीं जिनमे 2598 छात्र थे। अलवर मे 101 पाठशालाएं थी जिनमे फारसी से शिक्षा देने वाली 31, सस्कृत से 28 और हिंदी से शिक्षा देने वाली 42 स्कूलें थीं और छात्र–संख्या 1371 थी। सिरोही मे 38 स्कूले थी। अजमेर और मेरवाडा मे 113 स्कूले थीं जबकि हाडौती और भरतपुर के अनेक गावो में स्कूलें बताई गई हैं।[2]

बीकानेर मे सन् 1884 ई. तक कोई सरकारी स्कूल नहीं था, किंतु सन् 1873 ई मे जस्सोलाई मे लिखमा मारजा की पोसवाल मौजूद होने के प्रमाण मिलते हैं। वीकानेर राज्य के चूरू नगर में सन् 1878 ई. में बागला सस्कृत पाठशाला संचालित थी जिसमे पं. गौरीशकर शास्त्री एवं प स्नेहीराम शास्त्री

अध्यापन कार्य करते थे। उनके पश्चात् सन् 1883 मे भाष्याचार्य पं. हरनामदत्त शास्त्री काशी से आकर बागला पाठशाला मे पढ़ाने लगे।[3]

इस प्रकार राजस्थान में आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से पूर्व परंपरागत शिक्षा का पर्याप्त प्रचार-प्रसार था, किंतु यह परंपरागत शिक्षा आधुनिक शिक्षा-पद्धति से कई दृष्टियो से पृथक् थी। उसमें पारपरिक संस्कृति और संस्कृत भाषा तथा मध्यकाल में राजभाषा बनी फारसी के अध्ययन-अध्यापन पर बल दिया जाता था और लेन-देन, हिसाब-किताब और वाणिज्य-व्यापार के लिए गणित पढ़ी-पढाई जाती थी। स्कूलों मे छात्रों के लिए कोई अनिवार्य व्यवस्था नहीं थी। पढने-पढाने का समय भी निश्चित नहीं था। केवल प्रतिपदा, अष्टमी, अमावस्या, पूर्णमासी को अनध्याय रहता था। परीक्षा-प्रणाली जैसी कोई जांच-प्रणाली भी नही थी। विद्यार्थियों के मौखिक ज्ञान व प्रश्नों को हल करने की क्षमता पर जोर दिया जाता था। विद्यार्थी अपने गुरु की ख्याति के अनुसार मान-सम्मान पाते थे। राज्य समय-समय पर भूमिदान अथवा दान-पुण्य खाते से शिक्षको को कभी-कभार धन भी देते थे और शिक्षा के प्रति उदासीन नहीं रहते थे। धीरे-धीरे विद्यार्थियो से अपेक्षा की जाने लगी कि वे भी शिक्षा प्राप्त करने के एवज में अपने शिक्षक को कुछ दें। बीकानेर राज्य में कुछ महाजनी पोसालों में तीन वर्ष के अध्ययन के लिए अपने शिक्षक को 5 मण बाजरी (मोटा धान) व आठ रुपए देते थे।[4] इसलिए शिक्षालयों में बहुत कम बालक पढ पाते थे। इनमें भी अधिकांश ब्राह्मणों और बनिकों के बालक होते थे।

परंपरागत शिक्षा में मुद्रित पुस्तको का अभाव था और आधुनिक शिक्षा की तरह कालांश की समयबद्ध कक्षाएं भी नहीं होती थीं। प्रत्येक विद्यार्थी अपने शिक्षक से अलग-अलग विषय पढता और पढाई में हस्तलिखित ग्रंथ अथवा जबानी याददाश्ती से काम लिया जाता। कोई भी विद्यार्थी कभी भी स्कूल में आ जाता और अपनी सुविधानुसार पढ कर चला जाता।[5] इसी प्रकार पांच-चार अभिभावक भी अपने बच्चो को पढाने के लिए किसी ब्राह्मण को दस-बारह रुपए माहवार देना तय करके पढना, लिखना और हिसाब करना सिखा देने की व्यवस्था कर लेते।[6] राज्य के जागीरदार जो इस समय तक अपनी जागीरो में निवास किया करते थे, भी अपने घर पर पण्डित या मोलवी को अपने बच्चों को शिक्षा दिलवाने के लिये नियुक्त कर लिया करते थे।

किन्तु स्वाधीनता प्राप्ति से पूर्व उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दशको एवं बीसवीं सदी के प्रारम्भ मे यद्यपि कई शहरों–कस्बो में रियासती सरकारों और

सेठ–साहूकारो के प्रयासों से स्कूलें खुल चुकी थीं, परन्तु फिर भी मुख्य रूप से कस्बों में जातीय धंधो–व्यवसायो और उद्योग–व्यापार के सुचारु संचालन के लिए महाजनी पद्धति वाली उपरोक्त पोसालों – चटशालाओ से हिसाब–किताब का पुख्ता ज्ञान–प्राप्त नौजवानों की बड़ी मांग थी। अब पोसाले किसी जाति विशेष के बालकों के शिक्षण तक सीमित न रहकर सभी व्यवसायिक जातियों के बालको का शिक्षण केन्द्र बन चुकी थी। पोसालों की शिक्षण पद्धति में एक से चालीस तक के पहाड़े और सवाया, डेढा, ढाया, घूंटा, पंचा, बड़ी एका तक छात्रो को लिखना व बोलना (कंठस्थ करना) सिखाया जाता था। एक तरह से वहां से निकलने वाले छात्र रैडी–रैकनर की जरुरत पूरी करते थे। वे लाखों–करोड़ों के हिसाब बिना कागज मुंहजबानी करने में सक्षम थे। वस्तुओं की खरीद–फरोख्त, मजदूरी–देनदारी, ब्याज–चक्रवर्धी ब्याज, भवन–निर्माण, स्थापत्य, कारीगरी, बढईगिरी, स्वर्णकारी, दर्जीगिरी आदि विविध व्यवसायों के हिसाब मे पोसालों से निकले विद्यार्थी पूर्णतया दक्ष होते। इन पोसालों से निकले विद्यार्थी राज की सेवा जाने के लिये तत्कालीन प्रारम्भिक स्कूलों में भर्ती हो जाते थे, जहां उन्हें राज्य सेवाओ में प्रयुक्त होने वाली जानकारियों के साथ फारसी व अन्य स्थानीय भाषा की शिक्षा भी मिल जाती थी। महाजनो के बालक महाजनी स्कूलो मे साहूकारी शिक्षा ले लिया करते थे। प्रायः स्कूलो मे पढने हेतु जाने से पूर्व महाजनी पद्धति मे पारगत होने के लिए माता–पिता बच्चो को पोसालो मे भेजना पसद करते थे और गर्मियो की डेढ माह की छुट्टियो मे स्कूली छात्रो में से अधिकाश पोसालो की पद्धति से लाभ अर्जिज करते थे।

राजस्थान के पश्चिमी राज्यो में पोसाल व्यवस्था और उनमें दी जाने वाली शिक्षा की अत्यधिक जानकारी उपलब्ध होती है जो काफी रुचिकर है। पोसाले गुरु या मारजा के निजी नाम से विख्यात थीं। गुरु का घर ही शिक्षण का स्थान था। प्राय पेडो के नीचे या छप्पर के नीचे बाडे मे छात्र जमीन पर बैठते। दस बजे घर से खाना खाकर पानी से भरा लोटा डोरी से लटकाये, पाटी–बस्ता और पाटी पौंछने का कपडा लेकर छात्र पोसालों मे पहुंचते। गुरुजी हरेक छात्र से व्यक्तिगत रिश्ता रखते। उन्हे पहाडे डालते, उनका काम देखते, प्रगति पर निगाह रखते। नये छात्रो और पुराने बडे छात्रो का समूह साथ–साथ बैठता। छात्र आपस मे भी सीखते–सिखाते रहते। दोपहर एक डेढ बजे कलेवा करने का अवकाश होता। बच्चे अपनी अपनी पोटली खोलकर नाश्ता करते, अपना पानी पीते। एक तरह का अलगाव भी था और साथ भी। सामाजिकता

का परोक्ष शिक्षण स्वतः मिल जाता। जातीय सौहार्द्र देखने लायक था।

दिनभर पोसालों में रहते हुए छात्र मुख्यतः पहाडे और अक्षर ज्ञान सीखते। लगभग दोपहर बाद चार बजे सामूहिक रूप से मुहारनी बोलाई जाती थी। पुराने दो–तीन लडके खड़े हो जाते और एक से सौ, चालीस तक के पहाडे, सवाया, डेढ़ा, ढाया, घूंटा, पंचा, बडी एका पहाड़े बोलाते, वर्णमाला के स्वर–व्यंजन बोलाते और अंत में होता सीधो वर्णा। इसके बाद ही छात्र अपने–अपने घर जा पाते। यह नियमित शिक्षण क्रम था।

पोसालों मे गुरांसा या मारजा की सोलर पोजीशन थी। वे भले, उनका घर भला और पोसाल भली। वे प्रायः कस्बे मे या शहर मे घूमते नहीं मिलते थे। जिसे भी जाना हो, उनके घर जाए। उनकी प्रतिष्ठा थी, साख थी। उनकी पोसालों की गरिमा छात्रों की दक्षता से व्यक्त होती। वृक्षों की परीक्षा उनके फलों से होती है, वैसे ही गुरु की महत्ता छात्रों की प्रतिभा से प्रगट होती थी।

मुहारनी बोलाने में एक लय काम करती थी। जैसे श्लोकों या पदों की लय होती है, छंदो के गाने की विधि होती है, वैसे ही मुहारनी की लय से छात्रो को रटंत के लिए श्रम नहीं करना पड़ता था। जैसे : पांऊ–पांऊ पच्चीस, छकमक छत्रीस, पंद्रह का पहाडा प्रायः बड़ी छटा से बोला जाता, पंदरा एका पदरा, दूवां तीसए, तीया पेंताला, चौकां साठ ए, पांण पिचेत्तर, छकडी की निब्बे, सत पिचडतंर, अंठा बी सौ, नवा पैंती सौ, डबली मे डेढ सौ। इसी तरह बडी एका बोलते : गीर–गीर इक्की सौ, गिर बारै बत्तीस सौ, गिर तेरै तैयालसौ, इत्यादि। अंत मे बिना समझे ही 'सिद्धो वर्णा.' को आचलिक शैली में बोलाया जाताः सीधो वर्णा, समामनाया, चत्रु–चत्रु दासा, दसेस वर्णा, दसै समाना इत्यादि। बाल्यावस्था में तो सीधो वर्णा की महत्ता समझ मे आ ही नहीं सकती। प्रौढ अवस्था में जाकर पता लगता है कि देवनागरी लिपि और भाषा की व्याकरण को समझने में उन सूत्रो का कितना बडा महत्व है।

कहते हैं न कि जादू वो जो सिर पर चढकर बोले। पोसालो की पढाई का जादू छात्रों को कुछ महीनों में ही पता लग जाता था। वे घर के छोटे–मोटे हिसाब जबानी लगाने लगते। आजकल की स्कूलो में नामांकन अभियान चलाया जाता है। प्रवेशोत्सव मनाया जाता है। फिर भी ढाक के वही तीन पात।

पोसालों के गुरांसा गणेश चतुर्थी के दिन, साल मे एक बार अपने छात्रों के साथ ढोल–ढमाकों और गीतों की गुंजार के साथ शहर भ्रमण को निकलते। छात्रों के घरों मे उनके माता–पिता आगे बढकर सम्मान करते। एक.

गीत न जाने कितने समय से गाया जाता था जो सामूहिक रूप से सारे लड़के नगाड़े बजाते, नाचते–कूदते अपने साथी छात्र के घर के सामने गाते. 'चतडा चौथ भादूडो / दे दे माई लाडूड़ो / लाडूडा ने पान–सुपारी / चौथी राणी करी तैयारी / सुण–सुण ए कानू री मा /थारा बेटा ने साल पढा / साल पढा पोसाल पढा / आलो दूंढ दिवालो दूंढ / छोटी बहू री पेई दूंढ / बडी बहू रो बुगचो दूंढ / दूंढ दुंढाकर वारै आ / गुरांसा रै पाग बंधा / गुरांणी नै बेस दिरा / चतडा नै च्यार लाडू दिरा ... इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पर्क से स्वत माता–पिता अपने बच्चो को गुरांसा के वहां भेजने को तैयार हो जाते और बच्चे भी गुरासा से परिचित हो जाते। गुरु भक्ति का एक उदाहरण दृष्टव्य है।

बीकानेर के अंदरूनी हिस्से में उन्नीसवी सदी के अतिम दशको तक चलने वाली पोसल मे 'लाला मारजा' के यहां बर्तनों की चोरी हो जाने पर मारजा के शिष्यों ने सुबह उनके घर के आगे बर्तनो का ढेर लगा दिया था जिनमें से कुछ बर्तन रख कर मारजा ने बाकी बर्तन लक्ष्मीनाथजी मदिर मे जमा कराए क्योंकि कोई भी शिष्य उन्हें वापस लेने को तैयार नहीं हुआ।

पोसाल पद्धति की रटंत पद्धति मे ऊब उकताहट नहीं थी, एक लय थी और बिना परीक्षा दिये ही, बच्चों को अपनी सफलता का पता लगता रहता था कि उन्होंने कितना कुछ अर्जित कर लिया और अब कितना कुछ शेष है। यहा हम इन पोसालो में कुछ सामान्य बातों को क्षेत्र की आंचलिक राजस्थानी भाषा में अक्षर ज्ञान, व्याकरण और गणित के जिन सूत्रो को नियमित रूप से बालकों को रटाया जाता था, के कुछ उदाहरण का परिशिष्टो मे उल्लेख कर रहे हैं।

आरंभ मे यह परपरागत शिक्षा भारतीय जीवन की सभी जरूरते पूरी करती रही हो, किंतु 19वी सदी में जो परपरागत शिक्षा थी, वह न केवल सीमित, एकागी और अप्रासगिक हो गई थी, बल्कि समाज के अधिकांश लोग पढाई-लिखाई से महरूम हो गए थे। दंडी स्वामी विरजानंद के शिष्य स्वामी दयानद सरस्वती ने इस अप्रासंगिकता को समझा था। जयपुर के महाराजा ने भी जयपुर को शिक्षा मे काशी के समतुल्य बनाने के अपने लक्ष्य के मुताबिक सन् 1844 ई. मे ही महाराजा संस्कृत कॉलेज की स्थापना कर दी थी और उसमे नवीनता के समावेश हेतु सन् 1887 ई मे वहां परीक्षा प्रणाली की भी शुरुआत कर दी थी।[7] फिर भी परंपरागत शिक्षा-प्रणाली के स्थान पर आधुनिक शिक्षा-पद्धति का प्रचलन लार्ड हेस्टिंग के प्रयासो से शुरू हुआ जबकि उसने नवाब वज़ीर से प्राप्त 3000 रुपए मे 3000 रुपए और मिला कर शिक्षा का पहला

बजट बनाया और उससे सन् 1818 ई. में एक शिक्षा अधीक्षक की अजमेर में नियुक्ति हुई।[6] कालांतर में अजमेर में स्कूल खुले और बंद हुए। पुनः खुले और मिशनरीज के अलावा रियासतों की तरफ से भी आधुनिक शिक्षा को प्रोत्साहन मिला तो 19वीं सदी के अंत तक परंपरागत शिक्षा–प्रणाली के साथ आधुनिक शिक्षा का प्रचार भी होने लगा।[7] इसी दौरान राजस्थान के अनेक राज्यों में राज्य सरकार के सहयोग से तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार प्राथमिक स्तर पर कुछ पुस्तकें प्रकाशित कराई जाने लगी थी। इससे परम्परागत शिक्षा देने वाले छोटे–बडे विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में उक्त पुस्तकीय ज्ञान भी दिया जाने लगा था।

संकेत-संदर्भ

1. मरु भारती (शोध पत्रिका), पिलानी, अंक 7/3, अक्टूबर, 1959 ।
2. अजमेर स्कूल के प्रिंसिपल डॉ. बुच ने 1855 में अजमेर के चार परगनों की यात्रा की थी। मुंबई के शिक्षा निदेशक ई. आई. हावर्ड ने सन् 1863 ई. मे राजस्थान के पश्चिमी राज्यों की यात्रा की थी। इन दोनों के यात्रा–विवरणों के अलावा सभी स्टेटो के पोलिटिकल एजेंट्स की रिपोर्टों में शिक्षा विषय पर विस्तृत विवरण लिखे हैं। लॉरेंस-रिपोर्ट में भी नेटिव स्टेटों मे गैर–सरकारी स्कूलों की विद्यमानता स्वीकार की गई है जिनमें फारसी और हिंदी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। ए.जी.जी. रिपोर्ट 1864.
3. गोविंद अग्रवाल, चूरू मंडल का इतिहास, पृ. 51
4. (i) उदयपुर रेकार्ड में खर्च बही नं. 17, वि. सं. 1930 और कोटा रेकार्ड में बस्ता न. 76 व 77, क्रमशः वि. सं. 1905 और 1927

   (ii) लार्ड हेस्टिंग्स यह जानकार चकित रह गया था कि जयपुर रियासत का मुख्यमंत्री भी मुश्किल से लिख-पढ़ पाता था। प्राइवेट जर्नल ऑफ मारक्विस ऑफ हेस्टिंग्स, इलाहाबाद एडिशन, पृ. 376
5. नरूला एंड नायक, भारत में शिक्षा का इतिहास, 1951, पृ. 40
6. मेवाड पर ईडन की रिपोर्ट, पैरा-3
7. जयपुर स्टेट में प्राच्यविद्या सभा के सदस्य और महाराजा संस्कृत कॉलेज व प्रिंसिपल रहे पं दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने सन् 1913 मे 'चातुर्वर्ण्य शिक्षा' नाम र

एक सस्कृत काव्य लिखा है। उसमे उन्होंने परंपरागत शिक्षा-पद्धति के दोष उजागर किए हैं और स्त्री-शिक्षा तथा शूद्र-शिक्षा का भी विधान बताया है।

8. लार्ड हेस्टिंग्स, प्राइवेट जर्नल, पृष्ठ 376 और गवर्नर मिरिट, एफ.पी.नं 1, 7.11.1988

10. आधुनिक शिक्षा और पारंपरिक शिक्षा मे बुनियादी अंतर है। वेद तत्त्व–दर्शन की पारंपरिक शिक्षा इसलिए जरूरी मानी जाती है कि उससे जीव के लिए ज्ञान और क्रिया का अभिप्राय स्पष्ट होता है जबकि आधुनिक शिक्षा आधुनिक जीवन–पद्धति के लिए जरूरी हो गई। दुरूहता और ब्राह्मणो तक सीमित हो जाने से भी परंपरागत शिक्षा अप्रासंगिक हो गई। जबकि आधुनिक शिक्षा से रोजगार और प्रतिष्ठा मिलने लगी। फलत. मेयो कॉलेज खुलने के बाद प्रत्येक रियासत मे आधुनिक शिक्षा का निर्बाध प्रवेश हो गया।



परंपरागत संस्कृत और फारसी शिक्षा की दशा

पूर्व मे उल्लेख किया जा चुका है कि राजस्थान की परम्परागत शिक्षा व्यवस्था मे संस्कृत और फारसी भाषा का महत्व बना हुआ था। इसका एक कारण उस समय तक राजस्थान के अनेक राज्यों के शासक भारतीय संस्कृति के प्रबल पोषक होने के कारण वे हिन्दू धर्मशास्त्रों पर आधारित राजकाज करने मे रुचि लेते थे। फलस्वरूप शासक व उसके राज्य निवासी संस्कृत भाषा को महत्व देना आवश्यक मानते थे। राज्य की हिन्दू व मुस्लिम समाज की उच्च जातियों में ब्राह्मण संस्कृत भाषा के अध्ययन और अध्यापन मे रुचि लेते थे, वहीं हिन्दू जाति के ही कायस्थ और उच्च मुस्लिम वर्ग के लोग फारसी का अध्ययन करना अपने जीवन यापन की एक आवश्यकता मानते थे। ऐसे मे राजस्थान के लगभग सभी राज्यो में प्रारम्भिक स्तर पर संस्कृत पाठशालाओ का एक जाल बिछा हुआ था जहाँ संस्कृत भाषा मे उच्च ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व संस्कृत व्याकरण का अच्छा खासा ज्ञान दिया जाता था। इन शास्त्रीय संस्कृत पाठशालाओ में शिक्षा नि शुल्क दी जाती थी और इनमें से अनेक संस्कृत पाठशालाओं को धनाढ्य लोगो द्वारा आर्थिक संरक्षण दिये जाने के कारण वे काफी फलफूल रही थी। उनमे वेदान्त, न्याय, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, मीमांसा, साहित्य, फलित ज्योतिष, आयुर्वेद, मनस्मृति और पुराणों आदि का व्यापक अध्ययन करवाया जाता था।

ठीक इसी तरह से राजस्थान के अधिकांश राज्य मुगल सत्ता के आधीन व कारण राजकाज में अपनी आंचलिक भाषा के साथ फारसी को अपनाये हुए थे। अदालतों मे तो अधिकाश कार्य फारसी में ही होता था। ऐसे *मे राजस्थान के हिन्दू और मुसलमानों दोनों का ही एक बड़ा वर्ग फारसी पढना* चाहता था, जिससे उन्हे राज्य में रोजगार प्राप्त करने मे सहायता मिल सके। हिन्दुओ मे कायस्थ लोगों का अपने बच्चों को फारसी पढाने की ओर ज्यादा ध्यान था। ऊंची जाति के मुस्लिम तो पहले से ही फारसी पढने में रुचि रखते

थे। इसी का परिणाम था कि राजस्थान में संस्कृत पाठशालाओं के साथ–साथ लगभग बड़ी संख्या में फारसी के मकतब भी खुले हुए थे। इन मकतबो मे उर्दू भी पढाई जाती थी। इनमे जहां उर्दू की पढाई समाप्त होती वहाँ फारसी प्रारम्भ होती थी। यह सारी पढाई सात से नौ बरस मे समाप्त हो जाती थी और इस तरह मकतब छोड़ते समय बालको को फारसी का अच्छा ज्ञान हो जाता था। इसके बाद भी अगर कोई बालक फारसी का और अच्छा ज्ञान प्राप्त करना चाहता था, वह मस्जिदो में चलने वाले बड़े छात्रो के लिए ऊंचे स्तर के फारसी मकतबों मे प्रवेश ले लेता। वहाँ अरबी मे वैद्यक व धर्म की शिक्षा दी जाती थी। इसमे कुरान भी एक प्रमुख विषय होता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 1835 ई. तक तो अंगरेजी भारत मे जहाँ अंगरेजी कानून–कायदो को लागू करने की प्रक्रिया चल रही थी, वहाँ भी अदालतों मे तो फारसी भाषा का ही व्यवहार होता था। फलत: अंगरेजो ने राजस्थान के विभिन्न राज्यों में राजकाज मे फारसी भाषा के व्यवहार मे कोई बाधा नहीं खडी की। फलस्वरूप राज्यो में राज्य सरकार संस्कृत के साथ फारसी भाषा को भी संरक्षण देने में पीछे नहीं रहे। यह अलग बात है कि बढते अंगरेजी प्रभाव से कालान्तर मे इन भाषाओं का महत्त्व पूर्व की भांति न रह सका।

यद्यपि उन्नीसवीं सदी के राजस्थान में फारसी शिक्षा का तो कोई बडा केंद्र न था, किंतु इसके विपरीत इनमें संस्कृत-शिक्षा के अनेक विद्या-केंद्र थे। तो सन् 1844 ई. मे शुरू किया गया जयपुर का संस्कृत कॉलेज बहुत प्रतिष्ठित था और भारतवर्ष मे काशी के बाद शिक्षा का बडा केंद्र माना जाता था। संस्कृत-शिक्षा की दृष्टि से लाहौर, पूना, बडौदा, बंगलौर आदि से जयपुर को अधिक उपयुक्त विद्या-स्थान माना जाता था। इसीलिए अहमदाबाद के आयुर्वेद विद्वान् पं. कृष्णराम भट्ट ने जयपुर कॉलेज में नौकरी स्वीकार की और वे सन् 1875 में जयपुर आए।

जयपुर के पं. मधुसूदन ओझा (1865-1940) अपने समय के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् माने गए। भारत में नई शिक्षा को प्रगति देने वाले स्वामी दयानंद (1823-1883) भी 1869 मे जयपुर आए और सन् 1879 मे उन्होने उदयपुर में अपनी परोपकारी सभा का रजिस्ट्रेशन कराया। उस समय राजस्थान मे जयपुर के अलावा जोधपुर की 'विद्याशाला' भी 1863 ई. से पूर्व बन चुकी थी। उदयपुर मे 'सज्जन स्कूल' तो 1885 ई. में बनी परंतु इससे पूर्व 'शंभु रत्न पाठशाला' सन् 1863 ई. में खोली गई और वहां संस्कृत का पठन-पाठन होने लगा। उदयपुर

का सरस्वती भंडार, पुष्कर में श्री रमा वैकुंठ संस्कृत महाविद्यालय व श्री विट्ठलनाथ संस्कृत महाविद्यालय, कोटा संभवत. राजस्थान के सर्वाधिक पुराने संस्कृत शिक्षण संस्थान थे।

इसी प्रकार राजस्थान की अन्य रियासतो के प्रत्येक छोटे-बडे कस्बों में यत्किंचित् संस्कृत अध्ययन का एकांगी प्रयत्न होता था। उस समय गुरु-शिष्य परपरा में संस्कृत पढी जाती थी और उच्च अध्ययन के लिए शिष्य गुरु के पास जाता था। जिस प्रकार पं. अंबिकादत्त व्यास (1818-1900 ई.), पं. दुर्गाप्रसाद शर्मा, पं. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, पं. शिवदत्त, पं. हरि शास्त्री दाधीच, पं. हरनामदत्त शास्त्री, पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी और भट्ट मथुरानाथ आदि (1889-1954 ई.) विद्वानों की जो शृंखला थी, वह उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के संस्कृत–शिक्षण मे अपने महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए स्मरणीय है। इस प्रकार राजस्थान में संस्कृत अध्यापन में संलग्न संस्कृत विद्वानों की एक लम्बी परम्परा बनी। जिस प्रकार विभिन्न राज्यों की राजधानी में राज्य संरक्षण में संस्कृत अध्यापन के उच्च संस्कृत संस्थान मे अस्तित्व मे आये थे, उसी क्रम मे राजस्थान के विभिन्न अंचलो में उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के प्रारंभ में संस्कृत अध्यापन को राज्यों के श्रेष्ठि वर्ग ने भरपूर बढावा दिया। इनमें अधिकतर वे लोग थे जो वाणिज्य–व्यापार हेतु अपने मूल राज्यों से अंग्रेजी भारत मे कार्यरत रहकर धन कमा रहे थे। इनमे से अनेक लोगों का अपनी संस्कृति विशेष रूप से संस्कृत भाषा से लगाव था, उन्होंने अपने राज्यो में संस्कृत भाषा के प्रचार–प्रसार मे अहम भूमिका निभाई। उन्होंने प्रत्येक राज्य में स्थान–स्थान पर संस्कृत पाठशालायें स्थापित कर उनमें संस्कृत विद्वानो को नियुक्त किया। इन पाठशालाओं में पढने वाले छात्रों के रहने, खाने एवं पीने की नि:शुल्क व्यवस्था थी। राजस्थान में ऐसी संस्कृत पाठशालाओ की संख्या का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अकेले बीकानेर राज्य मे सन् 1890 ई. से 1930 ई. के मध्य बीकानेर, चूरू, राजगढ, नोहर, रतनगढ, हनुमानगढ़, रेणी, भादरा व सरदारशहर कस्बो में लगभग पच्चीस संस्कृत पाठशालायें अस्तित्व में थी।[1]

उस समय संस्कृत शिक्षा में अक्षरज्ञान के बाद अमरकोष और सारस्वत–चंद्रिका अथवा लघु कौमुदी रटी जाती। तदुपरांत चंद्रिका अथवा सिद्धांत कौमुदी पढी जाती और व्याकरण सीख लेने पर रघुवश, शिशुपालवध जैसे काव्य पढे जाते। उच्च अध्ययन में व्याकरण में मनोरमा, शब्देन्द्र शेखर आदि पढे जाते और साहित्य मे किरातार्जुनीयम्, नैषधचरित्र, साहित्य दर्पण आदि, जबकि तर्कशास्त्र मे तर्कसंग्रह, तर्कदीपिका तथा हिंदू धर्मशास्त्र (कानून)

और वैद्यक में मनु सहिता, मिताक्षी टीका और माधवनिदान, निघंटु, शारंगधर संहिता आदि पढे जाते थे।[2]

यह सही है कि उस समय राज्य के संरक्षण में फारसी पढाने के लिये अलग से संस्थान तो नहीं थे, परन्तु अनेक राज्यों में जहां फारसी ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या उपलब्ध थी उन राज्यों में राज्य के संस्कृत कॉलेजो में फारसी और उर्दू पढाने की व्यवस्था की हुई थी। इनमें जयपुर सस्कृत कॉलेज व उदयपुर की शुंभरत्न पाठशाला के नाम उल्लेखनीय थे।[3]

महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर 1844 ई. में शुरू हुआ तो उसमे सस्कृत के साथ फारसी और उर्दू के पठन-पाठन की व्यवस्था की गई। इसके लिए मुंशी किशनस्वरूप और मीर मुरादअली तथा उर्दू-अंग्रेजी पढाने के लिए श्री भवनलाल अध्यापक थे। हिंदी के लिए कोई पृथक् से व्यवस्था नहीं थी। उसे उर्दू मे ही शामिल माना जाता था और उर्दू अध्यापक मुंशी किशनस्वरूप ही उसके अध्यापक थे।

संस्कृत की तरह उर्दू, फारसी और अरेबिक के लिए कुछ राज्यों में पठन-पाठन की व्यवस्था थी। इसके लिए मकतब–मदरसे सभी राज्यो मे विद्यमान थे। अजमेर, मेरवाडा में शिक्षा का ब्यौरा देते हुए डॉ. बुच ने लिखा है कि केकडी मे मुस्लिम परिवारों के अतिरिक्त पहले पटवारी और बनिए भी अपने बच्चों को उर्दू पढाने के इच्छुक थे।[4] जयपुर, अलवर, भरतपुर, कोटा, टौंक आदि मे ऐसे मदरसों मे अरेबिक और परशियन के पढने-पढाने की भी व्यवस्था थी।

सस्कृत और फारसी शिक्षण मे मुद्रित पाठ्य-पुस्तको का अभाव था। शिक्षकों में शिक्षा-प्रसार के प्रति परंपरागत आग्रह रहता था और जनता मे भी उसके प्रति उत्कठा का अभाव था। फिर भी विलियम एडम (1853 ई), मुनरो, एल्फिंस्टन, वुड और हंटर जैसे शिक्षाविदो ने इसे सुधार कर चालू रखने की सिफारिश की थी।[5] इस परपरा मे सन् 1864 ई में लगभग 500 स्कूले राजपूताना में सचालित थी।[6] किंतु ये शनै--शनै निशेष हो गईं।

महाराजा सस्कृत कॉलेज, जयपुर में प्रिंसिपल रहे महामहोपाध्याय पं दुर्गाप्रसाद द्विवेदी ने सन् 1912-13 ई. में चातुर्वर्ण्य शिक्षा नाम से एक काव्यग्रंथ लिखा और बारह वर्ष बाद स्वयं ही उस पर संस्कृत टीका लिख कर उसे सन् 1927 ई. मे मुद्रित करवाया। उन्होने स्वयं स्वीकार किया है कि परंपरागत

शिक्षा-पद्धति युगातर मे अप्रासंगिक हो चुकी है, किंतु जड़भूत जीव के लिए ज्ञान और क्रिया बिना जीवन ही व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए गवद्वेदादि से कुरानशरीफ पर्यंत जो ज्ञानराशि उपलब्ध है, उसे जानना जरूरी है। उन्होंने लिखा है कि वेदों में धर्मप्रधान विद्या है तो आयुर्वेद आदि में अर्थप्रधान विद्या भी है। इसलिए मठ (महाविद्यालय) और पाठशालाएं बनाई जाकर उनमे योग्य अध्यापक नियुक्त किए गए। तीन वर्षों के और इतर वर्षों के सभी छात्रों के लिए आवास, भोजन आदि की व्यवस्था हो और छात्रों को ऐसी शिक्षा दी जाए कि वे लौकिक और पारलौकिक विषयों में पारंगत हों और केवल उपाधिधारी न बनें।[7]

इसके बावजूद आधुनिक शिक्षा के बढते प्रभाव के बाद भी सन् 1947 मे महाराजा संस्कृत कॉलेज, जयपुर के अलावा संस्कृत पाठशालाएं थीं, जो जिला हैडक्वार्टर्स पर चल रही थीं। निजी स्तर पर चलने वाली 148 पाठशालाएं थीं, जहां 2944 छात्र पढते थे। इसके अलावा ग्यारह संस्कृत कॉलेज थे जहां 605 छात्र पढ़ रहे थे। सरकारी आयुर्वेद कॉलेज के अलावा यूनानी, तिब्बी कॉलेज भी संचालित थे।

इन गैर–सरकारी संस्थाओं में बांगड़ों ने पुष्कर में श्री रमा बैंकुंठ संस्कृत पाठशाला और जोधपुर की वैदिक पाठशाला (1890 ई) श्रीमालियों ने शुरू कीं।[8] श्री दादू महाविद्यालय, जयपुर (सं 1977), कोटा में विट्ठलनाथ संस्कृत पाठशालाएं; ब्रह्मचर्य आश्रम, लक्ष्मणगढ; ब्रह्मचर्य आश्रम, रतनगढ; संस्कृत पाठशाला, रामगढ; मोहता आयुर्वेद कॉलेज (बाद में सनातन धर्म कॉलेज), बीकानेर आदि उल्लेखनीय संस्थाएं शुरू हुईं और चिरकाल तक शिक्षण का उपयोगी काम करती रहीं। कुछ संस्थाएं आज भी चालू हैं।[9]

इस प्रकार धीरे–धीरे संस्कृत और फारसी शिक्षा पर आधुनिक शिक्षा का प्रभाव पडा। गैर–सरकारी संस्थाओं मे संस्कृत के व्यापक अध्यापन और अध्ययन के कारण संस्कृत का तो निरंतर विस्तार होता गया, किंतु उर्दू और फारसी का अधिक विस्तार नहीं हो सका।

संकेत - संदर्भ

1. डॉ गिरिजा शंकर शर्मा, मारवाडी व्यापारी (बीकानेर) 1988 ई. पृ. 146–147
2. राजपूताना गजेटियर्स, अर्सकाइन, मेवाड़ रेजीडेन्सी, 2 ए, पृ 82

3. रिपोर्ट ऑन पब्लिक इस्ट्रक्शंस इन जयपुर, 1895 ई., पृ. 25
4. डॉ. बुच, रिपोर्ट ऑन दी विलेज स्कूल्स इन अजमेर, 1855 ई., पैरा 15
5. नुरुला एंड नायक, हिस्ट्री ऑफ एज्युकेशन इन इंडिया, 1951 ई., अध्याय 1
6. बुक रिपोर्ट, फारेन जनरल-ए, 1864 ई. नं. 10-18
7. द्विवेदी दुर्गाप्रसाद, चातुर्वण्य, शिक्षा, 1927 ई., पृ 34-35
8. राजपूताना गजेटियर, वोल्यूम-III ए, अध्याय-168
9. केवल वैदिक पाठशाला, जोधपुर; संस्कृत पाठशाला, रामगढ और आयुर्वेद कॉलेज, बीकानेर बंद हुए हैं।



राज्यों में अभिजात्य वर्ग की शिक्षा-व्यवस्था

राजपूताना एडमिनिस्ट्रेटिव रिपोर्ट्स (1865-67 ई) और रिपोर्ट ऑन द स्टेट ऑफ एज्युकेशन इन द नेटिव स्टेट्स ऑफ राजपूताना (1905 ई) के अध्ययन से पता चलता है कि सामंतो और राजपूतों के लिए शिक्षा का पर्याप्त प्रबंध होता था। किंतु यह भी सच है कि राजपूत लोग इल्म एवं हुनर सीखना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझते थे और इसे ब्राह्मण-बनियो का काम मानते थे।[1] इसीलिए 18वीं सदी तक राजस्थान में जारी भारतीय शिक्षा-पद्धति मे सामंती शिक्षा का ध्येय ज्ञान तथा व्यक्तिगत कल्याण और सामान्य जन–शिक्षा में जीविका निर्वाह के साधन उपलब्ध कराना ही माना जाता था।[2]

राजस्थान के राजपूत राज्यो में आधुनिक शिक्षा की शुरुआत का पहला प्रयत्न अलवर के महाराजा बन्नेसिह ने किया। उन्होंने सन् 1842 ई. में पं. रूपनारायण की सहायता से एक स्कूल खोला और मुंशी उम्मेदसिह तथा मुशी शिवदयालसिंह की सहायता से संचालित किया। सन् 1870 ई. में यह हाईस्कूल बना।[3] भरतपुर (1842 ई.) और जयपुर (1844 ई.) मे भी आधुनिक शिक्षा के स्कूल खोले गए, किंतु इस स्कूल–शिक्षा को आरंभ मे जीविकोपार्जन का साधन समझा गया और सार्वजनिक स्कूलों मे मध्यवर्गीय लोगो के साथ सामंत पुत्रों का पढना हेठी का परिचायक होने से अंगरेजी शिक्षा के प्रति अनुत्साह बना रहा।[4]

फिर भी कंपनी सरकार के सामने सन् 1830 ई. में भरतपुर महाराजा बलवंतसिह, सन् 1835 ई. में जयपुर महाराजा रामसिंह, सन् 1853 ई मे भरतपुर महाराजा जसवंतसिंह और सन् 1857 ई. में अलवर महाराजा शिवदानसिंह को आरंभिक शिक्षा दिलाने की जिम्मेदारी आई। ब्रिटिश सरकार के सामने भी सिरोही के राजा उम्मेदसिंह (1861 ई) और उदयपुर के महाराजा शंभूसिंह की शिक्षा तथा शाहपुरा राजा की शिक्षा की सुव्यवस्था न हो पाने की समस्या आई

और कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने गवर्नर जनरल को लिखा कि छोटे-बडे सभी राजा-महाराजाओं की शिक्षा का समुचित प्रबंध किया जाए और इसके लिए बजट राजा-महाराजाओ से प्राप्त किया जाए। हमें विश्वास है कि इसमे कोई परेशानी नहीं होगी और ब्रिटिश सरकार इसे प्राथमिकता देगी।[5]

सन् 1857 ई. के स्वातंत्र्य संग्राम के बाद कंपनी सरकार के स्थान पर साम्राज्य की उद्घोषणा में रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य के स्तंभ और साम्राज्य का हितैषी माना गया क्योकि उक्त संग्राम में उन्होने ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी वफादारी दिखाई और रियासतों को भारतीय साम्राज्य का अनिवार्य अंग समझा जाने लगा।[6] इसलिए भरतपुर के पोलिटिकल एजेंट ट्रेविलन (1830 ई.), लुश्गिटन (1831 ई), बीकानेर (1859 ई.) आदि के बाद जब कर्नल सी. के एम वाल्टर (1869 ई.) ने अपनी वार्षिक रिपोर्ट में राजाओ के लिए 'ईटन इन इंडिया' के रूप में अलग कॉलेज की स्थापना का सुझाव दिया और कर्नल कीटिंग ए.जी.जी. ने उसे महत्त्वपूर्ण बताया तो लार्ड मेयो ने सुझाव तुरंत स्वीकार कर लिया।[7] उसने 22 अक्टूबर, 1830 ई को अजमेर में एक विशेष दरबार किया और सभी राजा-महाराजाओ को बुला कर अपनी योजना समझाई। राजा-महाराजाओ ने न केवल योजना पसंद की, अपितु कॉलेज के लिए 6 लाख का खर्चा भी स्वीकार कर लिया।[8] तदनुसार अजमेर का स्थान चुना गया और वहां पुरानी रेजीडेंसी के स्थान पर मेजर मंट की डिजाइन के अनुसार 5 जनवरी, 1878 ई को भवन निर्माण हेतु नींव भरी गई। इससे पूर्व अक्टूबर, 1875 ई में तत्कालीन अलवर महाराजा मंगलसिंह को प्रथम विद्यार्थी के रूप मे प्रवेश देकर कॉलेज शुरू कर दिया गया।

दो वर्ष बाद 21 नवंबर, 1881 को लार्ड रिपन ने कॉलेज के विद्यार्थियो को संबोधित किया और स्पष्ट किया कि यहां शिक्षा देकर हम राजा- महाराजाओ को अगरेज बनाने की इच्छा नहीं रखते। न ही हम उन्हें अपनी मातृभूमि और परिवार से अथवा अपनी परपराओं से विलग करना चाहते हैं। हम तो केवल उन्हें आधुनिक ज्ञान और आधुनिक सभ्यता से परिचित करा देना चाहते हैं।

उसके बाद 7 नवंबर, 1885 ई. को जब मेयो कॉलेज भवन का उद्घाटन हुआ तो उद्घाटनकर्ता लार्ड डर्बिन ने शिक्षित राजाओ को अपनी उच्च परंपरा, बलिदान, सहिष्णुता, सहनशीलता, पवित्रता, सत्य, न्याय, कृपा, सहानुभूति, दया और निर्भरता के सद्गुणो की आवश्यकता बताई और ऐसी अर्थलोलुपता, स्वार्थपरता, निर्दयता, अकर्मण्यता, आरामतलबी और बेपरवाही की

निंदा की जिससे राजा की प्रतिष्ठा गिरे, वंश की हानि हो और राज्य को नुकसान पहुंचे। इसी प्रकार की बात अक्टूबर, 1890 ई. में लार्ड लैंसडाउन ने भी कही कि हम अभिजात वर्ग को पब्लिक स्कूलों की तरह शिक्षा देकर सुसभ्य बनाना चाहते हैं।[9] किंतु वास्तव मे मेयो कॉलेज राजपूत राज्यों के भावी शासकों को ब्रिटिश ताज के प्रति स्वामिभक्त और आज्ञाकारी बनाने के लिए शुरू किया गया और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए कॉलेज में पढने वाले छात्रो की विद्या, तर्कबुद्धि, रहन-सहन और आचार-विचार को पूरी तरह ब्रिटिशियन बनाने की चेष्टा की गई। उनमें अंग्रेजी राज, ताज और मान्यताओं के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति- भावना भरने की निरंतर कोशिश की गई। मेयो कॉलेज के अधिकारियों को, जो सभी अंग्रेज ही होते थे, राजपूत राज्यों के भावी शासको के साथ घुल–मिल जाने तथा कॉलेज के विभिन्न समारोहों में उनके अभिभावकों से संपर्क बनाने की हिदायतें दी गईं।[10]

फिर भी आरंभिक कुछ समय बाद ही मेयो कॉलेज की प्रतिष्ठा गिर गई। जो पाठ्यक्रम वहां रखा गया उसे राजाओं ने नौकरी दिलाने वाला पाठ्यक्रम कह कर उसकी उपेक्षा शुरु कर दी। इस संबंध में 19वीं सदी के अंत तक विवाद चलता रहा। उपेक्षावृत्ति में कॉलेज के छात्रावासों का वातावरण दूषित हो गया और वहां जुआ, मद्यमान और नाच-गान शुरू हो गया। कॉलेज व्यवस्थापक उसे नियंत्रित नहीं रख पाए।[11]

सन् 1890 ई. तक मेयो कॉलेज में कलकत्ता (कोलकाता) यूनिवर्सिटी की एंट्रेंस परीक्षा की तैयारी होती थी, फिर इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की मैट्रिकुलेशन की। उसके बाद केरीकुलम बदला और स्कूल व कॉलेज–शिक्षा के लिए पृथक्-पृथक् इंतजाम हुए। इससे विश्वविद्यालयों में मेयो कॉलेज के डिप्लोमा अमान्य हो गए। बाद में ई. ए रिचर्डसन के प्रयास से इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ने मेयो कॉलेज के हायर डिप्लोमा को बी. ए. माना। अंत में पोस्ट डिप्लोमा कोर्स को कॉलेज सेक्सन बना दिया गया और उसमे इंटरमीडिएट परीक्षा की तैयारी होने लगी और आगरा यूनिवर्सिटी के बी. ए. हेतु अलग पढाई शुरू हुई जिसमें बूंदी (कोटा) के कंवर गजेंद्रसिंह ने सन् 1934 ई. में पहला डिप्लोमा कोर्स पूरा किया और उन्हें कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में दाखिला मिला।[12]

मेयो कॉलेज के प्रबंध हेतु एक कौंसिल बनी थी जो 1888 ई. में पुनर्गठित हुई। बाद में कार्यकारिणी और प्रबंध समिति बनाई गई किंतु उसकी मीटिंग पहली बार 9 मार्च, 1905 ई. को हुई। उसमें अजमेर कमिश्नर के अलावा

तीन अन्य अंग्रेज और 12 नरेश शामिल थे। सन् 1931 ई. मे मेयो कॉलेज के लिए विधान बना, जिसके अनुसार वाइसराय और ए.जी.जी. को अध्यक्ष, उपाध्यक्ष से हटा कर संरक्षक और विजिटर बना दिया गया। कालांतर में समिति का सचिव भी कॉलेज का प्रिंसिपल न होकर पूर्व–छात्रसंघ का सदस्य चुना जाने लगा। सन् 1939 ई. मे कॉलेज आभिजात्य वर्ग के अलावा बाहरी छात्रो के लिए भी खोल दिया गया और सन् 1946 ई. में उसे एक पब्लिक स्कूल बना दिया गया।

कुल मिला कर मेयो कॉलेज जिस नीयत से बना, उसे पूरा नहीं कर सका। उसमे तीव्र देशभक्ति को टकराहट मिलती थी। वहां अहंकार को संरक्षण मिलता था। आत्मप्रवंचना, एकाधिकार और मूलभूत समस्याओं की अनदेखी होती थी। फिर भी इस कॉलेज ने योग्य प्रशासक, प्रवक्ता, अंतरराष्ट्रीय व्यक्तित्व और उदात्त महापुरुष दिए। महाराजा गंगासिंह बीकानेर, महाराज जयसिंह अलवर, हरिश्चंद्र और महारावल लक्ष्मणसिह तथा डॉ. नगेन्द्रसिंह डूंगरपुर जैसे व्यक्तियो के लिए मेयो कॉलेज का स्नातक होना नि.संदेह महत्त्वपूर्ण है।

आभिजात्य वर्ग की शिक्षा

मेयो कॉलेज मुख्यतः आभिजात्य वर्ग और सामंतो की शिक्षा के लिए ही बना, किंतु वह इतना महंगा और उच्चवर्गीय था कि उसमें छोटे ठिकानेदार ठाकुर अपने कुंवरो को नहीं भेज सकते थे। कामदार, मुसाहिब और ठिकानेदारो के बालकों की शिक्षा की आवश्यकता को महसूस करके सर्वप्रथम जयपुर महाराजा रामसिहजी ने अपने यहां 1861 ई. में नोबल्स स्कूल खोला और अपने ताजमी सरदारो के सात से 15 वर्ष की आयु के सभी कुंवरों की सूची तैयार करवाई।[13]

सन् 1871 ई. में अलवर का ठाकुर स्कूल खुला। महाराजा शिवदानसिंह के काल मे वहां 86 छात्र थे। सन् 1873-74 ई. मे जब स्कूल के प्रधानाध्यापक लाला श्यामनारायण थे, तब छात्रों की संख्या घटकर 69 हो गई।[14] उसके बाद सन् 1875 ई. मे जोधपुर का नोबल स्कूल खुला जो लगातार प्रगति करता रहा और सन् 1916 ई. मे यहां से इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के लिए मैट्रिकुलेशन की परीक्षा होने लगी। उदयपुर का नोबल्स स्कूल सन् 1877 ई. मे खोला गया किंतु वह चल नहीं पाया। पुन. चालीस साल बाद उदयपुर मे नोबल्स स्कूल शुरु हुआ, जो 1954 ई. में भूपाल कॉलेज बना।

राजपूताने की एकमात्र मुस्लिम रियासत टोंक में नोबल्स स्कूल 1884 ई. में मौलवी सैयद हमीदउद्दीन अहमद के प्रयासों से खुला, जबकि बीकानेर का सुप्रसिद्ध वाल्टेर नोबल्स स्कूल सन् 1893 ई. में खुला और 1944 ई. में उसे पब्लिक स्कूल मे बदल दिया गया। इसमें कुल 1973 ई. प्रवेश दिए गए।[15] इस प्रकार नोबल्स स्कूल कोटा, बूंदी, भरतपुर, करौली और प्रतापगढ़ क्रमशः सन् 1895, 1897, 1902, 1903 और 1904 ई. मे खोले गए।

नोबल्स स्कूल शुरु में मेयो कॉलेज के लिए छात्र तैयार करते रहे किंतु इनमे शिक्षा लेना बहुत महंगा होने के कारण छोटे जागीरदारों के लिए वहां अपने कुंवरो को पढ़ाना मुश्किल था। हालांकि बहुत-से नोबल्स स्कूलों को रियासतों से अनुदान मिला। फिर भी बहुत कम ठिकानेदार यहां लगातार अपनी शिक्षा ले सके।[16] यही कारण है कि आज ये सभी स्कूल बंदप्राय हैं। इनमें से केवल सादुल पब्लिक स्कूल, बीकानेर; चौपासनी स्कूल, जोधपुर अभी तक शिक्षा-प्रसार का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। सादुल पब्लिक स्कूल को राज्य का खेल विद्यालय बना दिया गया है।

संकेत - संदर्भ

1 वीर विनोद (पृ 1330) में कविराजा श्यामलदास ने ऐसा ही मत व्यक्त किया है।
2. डॉ. गोपीनाथ शर्मा, सोशल लाइफ इन मिडियल राजस्थान, पृ. 266
3. वीर विनोद (पृ. 1363), पोलिटिकल कंसल्टेस-ए 1854 नं. 10-18 और अलवर एजेसी रिपोर्ट इस स्कूल के लिए महाराजा शिवदानसिंह (1857-1874 ई) ने मालगुजारी पर एक रुपया प्रति सैकड़ा महसूल लागू किया था और स्कूल की सुव्यवस्था के कारण तत्कालीन एजेंट हेमिंग्टन ने इसे जयपुर से अच्छा बताया था।
4. एफ. एल राड, रिपोर्ट ऑन दी स्टेट ऑफ एज्युकेशन इन दी नेटिव स्टेट्स ऑफ राजपूताना, पृ. 20-21 (1905)
5. पोलिटिकल लेटर नं. 23, दिनांक 27.11.1839 कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा गवर्नर जनरल को लिखा गया। इसी प्रकार लेटर नं. 38 (4 जून, 1840 ई.) में कच्छ के राजकुमार का प्रबंध करने का आदेश दिया गया है।
6. डोडवेल, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 1958, वोल्यूम 6, पृ. 493

7. राजपूताना एजेंसी रिपोर्ट, भरतपुर एजेंसी, 1868-69, पृ. 142 और फॉरेन प्रोसिडिंग पोलि. ए. 1870, नं. 608-09
8. तदनुसार लार्ड मेयो ने महारानी विक्टोरिया को पत्र लिखा 9.11.1870, माइक्रोफिल्म्स रील, मेमो पेपर्स नं. 302
9. शेरिंग, एम. ए., मेयो कॉलेज वोल्यूम 1, पृ. 200-204
10. पोलिटिकल कंसल्टेशन सीक्रेट एक्ट, 1901 और पो. क. इंटरनल वी.,1892
11. पोलिटिकल कंसल्टेशन इंटरनल ए. 1902, नं. 101-108
12. हिंदुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, 20 दिसंबर, 1934, पृ. 13
13. जयपुर गवर्नमेंट सेक्रेटेरियट रिकार्ड फाइल नं. जी-4/07, 1859
14. राजपूताना एजेंसी रिपोर्ट, अलवर एजेंसी, 1873-74, पृ. 190
15 ब्रिगेडियर वाघसिंह, वाल्टेयर नोबल्स हाई स्कूल, बीकानेर, 1980
16. ब्रिगेडियर वाघसिंह, वाल्टेयर नोबल्स हाई स्कूल, बीकानेर में कुल प्रविष्ट छात्रो की संख्या 1973 दी गई है। किंतु मिडिल परीक्षा पास करने वाले 15 और मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास करने वाले छात्रों की संख्या 55 दी गई है। ब्रिगेडियर साहब ने नोबल्स स्कूल बीकानेर द्वारा छात्रो मे 33 को उच्च सैनिक सम्मान प्राप्त होना भी लिखा है।



शिक्षा के प्रति शासकों का दृष्टिकोण

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में राजपूताने में सिसोदिया, कछवाहा, राठौड़ आदि सूर्यवंशी, यादव और भाटी आदि चंद्रवंशी, हाड़ा, देवड़ा आदि चौहानों तथा जाटों का एक राज्य था। उदयपुर, डूंगरपुर, प्रतापगढ, बांसवाडा और शाहपुरा सिसोदियों के थे। जयपुर और अलवर कछवाहों के, जबकि जोधपुर, बीकानेर और किशनगढ राठौडों के राज्य थे। करौली मे यादवों और जैसलमेर मे भाटियो का राज्य था। सिरोही मे देवडा और कोटा व बूंदी मे हाड़ा राजपूत राज्य करते थे। भरतपुर जाटों का था।

ब्रिटिश सरकार की भेदपूर्ण नीति के कारण तीन नए राज्यों का उदय हुआ। सन् 1806 में गोहद के पूर्व-शासक ने धोलपुर, बाडी और राजखेड़ा इलाका पाकर धोलपुर जाट राज्य निर्माण किया। 17 नवंबर, 1817 ई. में अमीर खा पठान को टौंक मिला। सन् 1838 ई. में कोटा का विभाजन हुआ और जालमसिंह के उत्तराधिकारी को झालावाड मिला।[1]

राजस्थान मे 19वीं सदी संक्रमणकाल की तरह रही, किंतु इस संक्रमणकाल में केवल मध्ययुग की व्यवस्थाएं भंग हुईं। पुराने प्रतिष्ठित वर्ग कमजोर पड गए और नए प्रभावशाली वर्ग उदित होने लगे। रियासतो के शासक पुराने ढर्रे में जीते रहे, जिससे प्रजा पर उनका नियंत्रण नही रहा। सामंतशाही बलवान हो गई और शासक-उत्तराधिकार तथा जागीरी ठिकानों के प्रबंध में स्वच्छता आ गई। ऐसे समय में अंगरेजों ने राजा, सामंत और व्यापारी में कोई भेद नहीं किया और अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए हर संभव नीति क्रियान्वित की। फलस्वरूप राजा अधिकाधिक ब्रिटिश संरक्षण पर निर्भर हो गए और उनकी निजी शक्ति उत्तरोत्तर घटती गई।

नसीराबाद में छावनी के बाद अंगरेजों ने मार्शल जातियों की बटालियन बनाई। सन् 1822 ई. में मेरवाड़ा बटालियन बनी। 1841 ई. मे मेवाड़ भील कोर।

सन् 1834 ई. मे शेखावाटी ब्रिगेड, 1837 ई. में जोधपुर लीजियन और 1838 ई. में कोटा कांटिंजेट। इससे राजाओं के पास की रही-सही ताकत भी अंगरेजों के मातहत हो गई। रियासतों के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप करके अंगरेजो ने प्रत्येक रियासत मे ब्रिटिश समर्थक दल बना लिए और जहां भी संभव हुआ, अपना मुख्तार अथवा अधिकारी नियुक्त कर दिया। रियासत जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर के रेकार्ड्स को देखने से स्पष्ट विदित हो जाता है कि राजपूत राज्यों के आंतरिक शासन पर नियंत्रण के लिए ब्रिटिश समर्थक दलों ने अपने प्रभाव का भरपूर प्रयोग किया और 19वीं सदी में राजा लोग शासन की दृष्टि से पूर्णतया अशक्त और पराश्रित हो चुके थे।

ऐसी स्थिति मे उनका शासन के प्रति उदासीन होना और विलासिता के प्रति आकृष्ट हो जाना सहज था। फलतः कुशासन बढ गया तो सुधार के नाम पर ब्रिटिश सरकार ने पाश्चात्यीकरण का काम योजनाबद्ध शुरू कर दिया। परंपरावादी राजघरानो– विशेषत: उदयपुर, बूंदी और बांसवाडा ने इसका विरोध किया और अपनी परंपरागत संस्था, रीति-रिवाज और मान्यताओं को बनाए रखने का प्रयत्न किया, किंतु अधिकांश शासक अपने व्यक्तिगत सम्मान, मर्यादा और रुतबे की रक्षा के अतिरिक्त प्रत्येक कार्य से विरत होते गए।

उदयपुर महाराणा सज्जनसिंह पर आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि दयानंद सरस्वती का बहुत प्रभाव था। उनके सरदार – आसींद के रावल अर्जुनसिंह, पारसोली के राव रतनसिंह, शाहपुरे के राजा नाहरसिह और शिवगढ के महाराज रायसिह स्वामी दयानंद के भक्त थे।[2] इससे उदयपुर मे पोलिटिकल एजेंट मेजर ईडन को आधुनिक शिक्षा-प्रसार में बड़ी दिक्कत आई। महाराजा सज्जनसिह की मृत्यु 23 दिसंबर, 1884 ई. को हुई। मृत्यु उपरांत किए जाने वाले दान-पुण्य की रकम से 'सज्जन स्कूल' एवं 'सज्जन हॉस्पिटल' बनाने कर निश्चय किया गया।[3]

इसी प्रकार बांसवाडा नरेश लक्ष्मणसिंह (1844-1905 ई) और बूंदी महाराव रामसिंह (1821-1889 ई) भी परंपरावादी थे और भारतीय संस्कृति के प्रबल पोषक थे। महाराव रामसिंह के लिए कविराजा श्यामलदास ने लिखा है, "वे हिंदू धर्मशास्त्र के ढंग से रियासती काम करते हैं, कानूनो की किताब भी धर्मशास्त्र के अनुसार बनवा कर जारी की है। अंगरेजों और मुसलमानो से छूने पर स्नान करते हैं और मुलाकात की पोशाक को भी धुलवाते हैं। जियादा अगरेजी दस्तंदाजी और सलाह को पसंद नहीं करते।[4]

इसी प्रकार जोधपुर में भी आधुनिक शिक्षा की वांछित प्रगति न होना महाराजा मानसिंह के कारण था। किंतु जोधपुर में प्रजाजनों मे अंग्रेजी शिक्षा के प्रति अनुराग था। उदाहरणार्थ 1887 ई. में कायस्थों ने सर प्रताप हाई स्कूल, 1896 में ओसवालों ने सरदार मिडिल स्कूल और 1898 ई. मे मालियों ने श्री सुमेर सैनी मिडिल स्कूल की स्थापना की।[5]

महाराजा मानसिंह ने तो गवर्नर जनरल को प्रेषित अपने एक पत्र में स्पष्ट लिख दिया था कि हिंदू शास्त्रो में वर्णित तथा दीर्घकाल से चली आ रही परंपरा, प्रथाओं और रीति-रिवाजों की वे अवहेलना नहीं कर सकते।[6] फिर भी जयपुर के महाराजा रामसिंह द्वारा मिशनरीज को रियासत जयपुर मे स्कूल खोलने की अनुमति के साथ शिक्षा-प्रसार की जो लहर रियासतों में आई, वह निरंतर बढती रही और कुछ राज्यों को छोड कर आधुनिक शिक्षा सारे राजस्थान में द्रुतगति से पहुंच गई।[7] द्रुतगति का मुख्य कारण अधिकांश रियासतों में अंगरेजों के विश्वस्त और स्वामीभक्त अधिकारी होना था। उदाहरणार्थ जयपुर में पं. शिवदीन, पं. विश्वंभरदीन, बक्शी फैजअली खां, बाबू संसारचंद्र और बाबू कांतिचंद्र मुखर्जी; जोधपुर मे मि. टेलर, पं. शिवनारायण काक और पं. सुखदेवप्रसाद, बीकानेर में अमीन मुहम्मद खां, हाफिज हमीदुल्ला, कोटा में नवाब फैजअलीखां, मुंशी देवीप्रसाद, सर रघुनाथदास आदि लोग नियुक्त थे जो सभी अंगरेजों के विश्वासपात्र थे।[7]

इसके अलावा भरतपुर के राजा बलवंतसिंह, जयपुर के राजा रामसिंह, उदयपुर के महाराजा शंभूसिंह, अलवर के राजा शिवदानसिंह, बीकानेर के महाराजा गंगासिंह आदि के नाबालिग राजा बनने से उनकी शिक्षा-दीक्षा भी ब्रिटिश सरकार द्वारा कराई गई थी[8] जिससे उनका दृष्टिकोण आधुनिक शिक्षा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण था। इसके बावजूद बीसवीं सदी के प्रारंभ के तीन दशकों तक राज्य के अनेक शासकों का शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण विशेष सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा।

वे अपने–अपने राज्यों में शिक्षा को अब भी एक गौण विषय के रूप में देखते थे। उदाहरण स्वरूप उनके राज्यों में उनके द्वारा राज्य में शिक्षा विभाग की जिम्मेवारी ऐसे अधिकारियों को सौंप दी जाती थी जिनका शिक्षा एवं उसके प्रसार में कोई रुचि नहीं होती थी। वे ऐसे अधिकारी होते थे जो राज्य के अन्य महकमों मे नियुक्त थे और उनको आनन–फानन में शिक्षा विभाग की जिम्मेवारी भी सौंप दी जाती थी। उदाहरणार्थ– भरतपुर में शिक्षा अधीक्षक सब-असिस्टेंट

र्जन भोलानाथदास थे।[9] उदयपुर में अफीम के छोटे एजेंट को अधीक्षक बना
या गया था।[10] जबकि अलवर में जेल अधीक्षक ही शिक्षा निरीक्षक था।[11]

डूंगरपुर-बांसवाड़ा रियासतों मे तो बीसवीं सदी के आरंभ में भी पं. राम दीक्षित, मजिस्ट्रेट, डूंगरपुर, इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल बने। फिर रेवन्यू धीक्षक और तदुपरांत इंजीनियर को यह काम सौंप दिया गया, जबकि सवाडा में एक स्कूल क्लर्क पं. केशवलाल ही निरीक्षक का काम भी करता हा।[12] बीकानेर रियासत में भी मेहता शिवबक्स, जो महकमा-खास में अनुवादक उन्हे निरीक्षक स्कूल का काम भी सौंप दिया गया और अगले वर्ष महकमा-खास सचिव शिव गोविंदसिंह को शिक्षा निदेशक बना दिया गया और निरीक्षक-स्कूल द समाप्त हो गया।[13] फिर भी उन राज्यों मे नियुक्त दीवान और मिनिस्टर्स से सर टी. विजयराघवाचार्य उदयपुर, सर मिर्जा इस्माइल जयपुर; सरदार के. पन्निकर, बीकानेर। सर वी. टी. कृष्णमाचारी जयपुर, सी. एस. वेकटचारी धपुर आदि का निजी योगदान भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। इनके उदार ष्टिकोण से बिरला ट्रस्ट, विद्याभवन, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान विद्यापीठ, मोत्थान विद्यापीठ, महिला मंडल, महिला शिक्षा सदन आदि संस्थाएं प्रगति कर कीं।

यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि शासको का शिक्षा के प्रति कोई शेष–व्यक्तिगत रुझान नहीं रहने के बावजूद शासको की रुचि एवं प्रयत्नो से छ ऐसे केंद्र अस्तित्व में आ गए थे जिनका उनके अस्तित्व–काल में तो क्षिक महत्त्व नहीं था, किंतु कालांतर में ये राज्यो मे उच्च शिक्षा के केंद्र बन थे। ये केंद्र थे मध्यकाल मे मुगलो की देखादेख राजपूत राज्यों मे स्थापित थीखाने। यह सही है कि इन पोथीखानों की स्थापना के पीछे कोई शैक्षिक वस्था का विकास करना नहीं था। प्रारंभ काल में तो भारत की मुगल-सत्ता भारत के विभिन्न अंचलो को अपने अधीन करने हेतु उन पर सैन्य आक्रमण रही थी और उसके कारण उन अंचलों में सदियों से संगृहीत ग्रंथ-संपदा उजड जाने की संभावना थी, ऐसी स्थिति मे मुगल सत्ता के प्रतिनिधि के रूप जो राजपूत शासक उक्त सैन्य अभियानों का नेतृत्व करते थे, उस ग्रंथ-संपदा नष्ट होने से बचाने एवं संरक्षण प्रदान करने हेतु अपने मूल राज्यो मे लाने थे। यही नहीं, अनेक राजपूत शासक मुगलकाल मे राजस्थान के बाहर : बडे सैनिक अभियानो का नेतृत्व करते हुए स्थान-स्थान पर पडाव करते कई बार तो एक ही स्थान पर कई-कई माह तक पडाव डाले रखते थे।

ऐसी स्थिति में वे वहां के स्थानीय विद्वानों और धार्मिक संस्थानों के संपर्क में आकर उनके द्वारा रचित अथवा संरक्षित ग्रंथ-सामग्री की प्रतिलिपि करवा कर अपने राज्यों में ले आते थे। इस प्रकार उत्तरी एवं दक्षिणी भारत की अनेक महत्त्वपूर्ण पांडुलिपियो की प्रतिलिपियां राजस्थान के इन राजपूत राज्यों के पोथीखानों में संरक्षित हो गईं। बीकानेर के शासक महाराज अनूपसिंह इस दिशा मे अग्रणीय शासक थे। इसी प्रकार इसी काल में राज्यों में राज्य–संरक्षित कवि एवं ख्यातकार (इतिहासकार) आदि द्वारा जो रचनाएं तैयार की जाती थीं, उन्हें भी उक्त पोथीखानो में रख दिया जाता था। ऐसे कवियो और ख्यातकारों में चारण जाति की बहुतायत थीं साथ ही धीरे-धीरे राज्य के सभी प्रकार के अत्यंत महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों को भी इन्हीं पोथीखानों मे सुरक्षित रखने की परंपरा पड गई थी। इस प्रकार विभिन्न भारतीय भाषाओं एवं विषयों से परिपूर्ण पोथीखाने अस्तित्व में आ चुके थे।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है कि राज्यों में पोथीखानों की स्थापना के पीछे कोई विशिष्ट शैक्षिक उद्देश्य तो नहीं था। हां, शासक लोग अपने राज्यों के ऐतिहासिक आलेख लिखवाने हेतु अपने इन पोथीखानो की ग्रंथ-सामग्री को ख्यातकारों को देखने का अवसर अवश्य दे दिया करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि मध्यकाल तक तो उक्त पोथीखाने केवल कुछ आभिजात्य वर्ग के लोगों के अवलोकन करने तक सीमित थे। किंतु 18वीं सदी मे भारत मे अंग्रेजी सत्ता के आगमन के साथ इन पोथीखानों की स्थिति में एक परिवर्तन आता है। उक्त पोथीखानो में संगृहीत पांडुलिपियों की जानकारी भारतीय विद्वानो के साथ पाश्चात्य देशो के विद्वानो को भी होने लगी थी। 19वीं सदी के आते-आते इंग्लैंड, पुर्तगाल, फ्रांस, जर्मनी और इटली के विद्वानो में उक्त पोथीखानों के अभिलेखों के विषय मे अधिक से अधिक जानकारी व उनके माध्यम से शोधकार्य करने की होड-सी लग गई। तभी से ये पोथीखाने भी भारत में उच्च शिक्षा प्राप्त लोगो के अनुसंधान करने के केंद्र के रूप में विकसित होने लगे। इस प्रकार के पोथीखानों में बीकानेर राज्य के पुराने पोथीखाने का आधुनिक रूप 'अनूप संस्कृत पुस्तकालय',[14] जयपुर राज्य का आधुनिक रूप 'पोथीखाना'[15] और जोधपुर राज्य के पोथीखाने के आधुनिक रूप 'पुस्तक प्रकाश'[16] स्वतंत्रता–पूर्व तक अनुसंधान के क्षेत्र मे अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

यहां यह उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार राजपूत राज्यो में राज्य स्तर पर पोथीखाने अस्तित्व में आए थे, उसी भांति उसी काल में अथवा उससे भी

पूर्व राजस्थान के राज्यो के मुस्लिम शासकों के आक्रमणो से बचे रहने की भौगोलिक स्थिति के कारण राजस्थान के बाहर, विशेष रूप से गुजरात प्रदेश, के जैन पांडुलिपि संग्रह यहां के विभिन्न राज्यो में सुरक्षा के नाम पर स्थानांतरित हो गए थे। इस प्रकार राज्य मे निजी क्षेत्र मे उक्त पांडुलिपियों के संग्रह भारतीय विद्या में अनुसंधान करने वाले देशी-विदेशी जिज्ञासुओ के लिए आकर्षण के केंद्र बन गए थे। इनमे जैसलमेर राज्य का जिनभद्रसूरि ज्ञान भंडार विश्व भर में अपनी शैक्षिक ख्याति रखता है।[17] इसके अतिरिक्त अनेक जैन भट्टारको के ग्रंथ संग्रह राजस्थान के विभिन्न स्थानो पर अवस्थित हैं। ये सभी संस्थान शोधकेंद्र के रूप में उपयोग में आ रहे थे और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् आधुनिक व्यवस्था से युक्त हो चुके हैं। इनमें भी जयपुर और नागौर के ग्रंथ-भंडार उल्लेखनीय हैं।[18]

उपर्युक्त स्थानो के अतिरिक्त राजस्थान के अनेक शासकों ने अपने राज्य की स्थानीय भाषा व इतिहास की अधिकाधिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए अपने राज्यो मे संस्था स्थापित की। सन् 1944-45 ई. में बीकानेर राज्य मे स्थापित सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट इसी क्रम में उठाया गया कदम था।[19] अनेक अन्य शासक भी ऐसे शोध-सस्थान अपने राज्यो मे स्थापित करने की प्रक्रिया मे ही थे कि भारत स्वतंत्र हो जाने से उन्हें बाद मे ही स्थापित किया जा सका। इन सस्थानो में राज्यों में यत्र-तत्र बिखरी पांडुलिपियो को संगृहीत कर निजी स्तर पर अनेक शोध-संस्थाए अस्तित्व मे आईं। ऐसी मुख्य शोध-संस्थाओं में जोधपुर के चौपासनी गांव स्थित राजस्थानी शोध-संस्थान, चौपासनी;[20] उदयपुर मे प्रताप शोध प्रतिष्ठान;[21] जोधपुर मे ही महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश,[22] उदयपुर में राजस्थान विद्यापीठ का साहित्य संस्थान;[23] आदि उल्लेखनीय हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् धीरे-धीरे राजस्थान में लगभग पचास से अधिक शोध-संस्थान निजी क्षेत्र में स्थापित हो गए थे।[24]

निजी क्षेत्र के साथ राजस्थान की राज्य सरकार ने भी राजस्थान मे राज्य स्तर पर प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर;[25] राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर[26] व टोंक में अरबी-फारसी शोध-संस्थान[27] स्थापित कर शोधकार्य को प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राजस्थान में उच्च शिक्षा का शैक्षिक स्तर सुधारने में उक्त दोनो ही प्रकार के ग्रंथ-संरक्षक संस्थानों का भी महत्त्वपूर्ण योग नकारा नहीं जा सकता।

संकेत - संदर्भ

1. एचीसन, ए कलेक्शंस ऑफ ट्रिटीज, एंगेजमेंट्स एंड रिलेटिंग इंडिया एंड नेबरिंग कंट्रीज, खंड-3, 1909 ई., श्यामलदास, वीर विनोद, पृ. 1377 और आगे तथा पोलिटिकल कंसल्टेशन, 1838, नं. 68 और 84
2. हरविलास शारदा, दयानंद कोमोमरेशन वोल्यूम, पृ. 31-372, गौरीशंकर हीराचंद ओझा का लेख – महर्षि दयानंद सरस्वती और महाराजा सज्जनसिंह।
3. राजपूताना एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट – मेवाड रेजीडेंसी 1884-85 ई., पृ 64
4. श्यामलदास, वीर विनोद, पृ. 120 (1875)
5. विश्वेश्वरनाथ, रेऊ मारवाड का इतिहास, खंड-2 (1938)
6. पोलिटिकल कंसल्टेशंस, नवंबर, 1829 ई., नं. 5 व 13
7. मजूमदार एंड घोष, ब्रिटिश पेरामाउंट एड इडियन रिनेसां, पृ. 965
8. डिस्पेच टू दी कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स, 1830, नं. 17, पोलिटिकल कंसल्टेशंस, 1831, नं. 49, 1832, न. 82, 1836, नं. 19, 1847, नं. 65 और पो. कं ए. 1860, नं. 379 तथा पो. कं. ए. 1862, नं. 77
9 फारेन डिपार्टमेंट प्रोसीडिंग, अप्रैल, 1864, जनरल ओ. नं. 31
10. मेवाड एजेंसी रिपोर्ट, 1869-70, पैरा 28, पेज 32
11. अलवर एजेसी रिपोर्ट, 1887-88, पैरा 17, पृ 150
12. डूगरपुर एडमिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट 1906, पैरा 9, पृ. 25, 1913-14, पेज 21 और 19,21-22 पेज 35 तथा रिपोर्ट आन दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ बांसवाडी स्टेट, 1937-38, पैरा 13, पृ. 28
13. रिपोर्ट आन दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ बीकानेर स्टेट 1913-14, पृ 51, पैरा 1216 और 1915-16, पृ. 39, पैरा 184
14. बीकानेर का पोथीखाना यहां के छठे शासक राजा रायसिंह के काल (1571-1612 ई) में अस्तित्व में आना प्रारंभ हो गया था। किंतु महाराजा करणसिंह एवं महाराजा अनूपसिंह (1661-1698 ई) के मध्य उक्त पोथीखाना पांडुलिपियों से सर्वाधिक समृद्ध हुआ था। यह क्रम महाराजा गगासिंह के काल (1887-1943 ई) के मध्

य तक निरंतर चलता रहा और इसी काल में यह महाराजा अनूपसिंह संस्कृत पुस्तकालय के रूप में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध हुआ। इस पोथीखाने की सस्कृत, राजस्थानी भाषा की पांडुलिपियां देश-विदेश के शोध अध्येताओं को निरंतर अपनी ओर आकर्षित करती रही हैं।

15. जयपुर राज्य का पोथीखाना अनौपचारिक रूप में महाराजा रामसिंह के राज्याभिषेक, वि. सं. 1724 मे ग्रंथ-संपदा की दृष्टि से काफी समृद्ध हो चुका था, किंतु पोथीखाने की विधिवत् स्थापना वि. सं. 1784 में सवाई जयसिंह द्वारा अपनी नई राजधानी जयनगर की स्थापना के समय में ही की गई थी। यहां पर सस्कृत, फारसी, बंगला, पुर्तगाली व अंग्रेजी आदि सभी तरह की भाषाओ के ज्ञान-विज्ञान सहित अनेक पांडुलिपिया सुरक्षित हैं। 19वीं सदी के अंतिम वर्षों तक यह पोथीखाना पांडुलिपियो की दृष्टि से और समृद्ध होता चला गया।

16 जोधपुर राज्य के शासक महाराजा मानसिंह ने 2 जनवरी, 1805 ई में अपने पूर्वजो के समय से चले आ रहे पोथीखाने को नया नामकरण 'पुस्तक प्रकाश' देकर उसे विधिवत् रूप दिया। किंतु 1977 ई. मे जोधपुर के वर्तमान शासक महाराजा गजसिंह ने अपने पुराने किले मेहरानगढ मे इसे 'महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश' के नाम से अनुसंधानकर्ताओं की सुविधा के लिए शोधकेंद्र बना दिया।

17. जैसलमेर राज्य को सभी प्रकार के आक्रमणों से सुरक्षित मान कर खरतरगच्छाचार्य श्री जिनभद्रसूरिजी महाराज ने गुजरात के खंबात, पाटण, अणहलपुर आदि विविध स्थानों से हस्तलिखित ताडपत्रों, पांडुलिपियो व अन्य अमूल्य ग्रथ संग्रह से जैसलमेर राज्य के किले के अंदर संभवनाथ मंदिर के भूमिगत भंडार मे सन् 1443 ई में एक भव्य जैन साहित्य भंडार की स्थापना की, जो कालांतर मे श्री जिनभद्रसूरि ज्ञानभंडार के रूप मे विख्यात हुआ।

18. 1. प. लूणकरणजी पाड्या ग्रथभंडार, 2. बडा तेरहपंथियो का जैन मंदिर ग्रथभंडार, 3. बाबा दुलीचंद बडा मंदिर ग्रंथभंडार, 4 पाटोदी जैन मंदिर ग्रथभंडार, 5 जैन मदिर ग्रंथभंडार, जोबनेर, 6 चौधरियों का जैन मंदिर

ग्रंथभंडार, 7. बैराठियों का जैन मंदिर ग्रंथभंडार 8. संघीजी जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 9. छोटे दीवानजी का जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 10. गोधों का दिगंबर जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 11. यशोदानंदजी का जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 12. विजयराम पांड्या का जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 13 पार्श्वनाथ का जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 14. आमेर ग्रंथभंडार 15. वृद्धिचंदजी जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 16. जीवबाई जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 17. खरतरगच्छीय ज्ञानभंडार, 18. लश्कर जैन मंदिर ग्रंथभंडार, 19. मरुजी जैन मंदिर ग्रंथभंडार 20. घोलिया जैन मंदिर ग्रंथभंडार (सभी जयपुर) तथा बीसपंथी दिगंबर जैन मंदिर ग्रंथभंडार, नागौर।

19 बीकानेर के शासक महाराजा सादूलसिंह ने सन् 1944-45 ई. में राज्य में राजस्थानी साहित्य, इतिहास में अनुसंधान कार्य को बढ़ावा देने के लिए सादूल राजस्थानी रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की।

20. जोधपुर में राजस्थानी शोध-संस्थान की स्थापना 22 अगस्त, 1955 ई. को चोपासनी शिक्षा समिति द्वारा की गई थी। राजस्थानी भाषा, साहित्य व मध्यकालीन भारतीय इतिहास में अनुसंधान का यह एक महत्त्वपूर्ण शोधकेंद्र है।

21. उदयपुर में विद्याप्रचारिणी सभा, भूपाल नोबल्स कॉलेज ने अपने क्षेत्र के साहित्य, संस्कृति, इतिहास, कला, धर्म, दर्शन, भाषा, पुरातत्त्व आदि में शोधकार्य को बढ़ावा देने के उद्देश्य से सन् 1970-71 ई. में प्रताप शोध प्रतिष्ठान ग्रंथ संग्रह की स्थापना की।

22. संदर्भ 3 में पूर्व--उद्धृत देखें।

23. सन् 1941 ई. में उदयपुर में संपन्न राजस्थान हिंदी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर साहित्य, इतिहास व संस्कृति में शोधकार्य को बढावा देने हेतु पं जनार्दनराय नागर ने उदयपुर में साहित्य-संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ की स्थापना की।

24. बीकानेर मे श्री अगरचंद नाहटा व भंवरलाल नाहटा ने सन् 1943 ई. में जैन साहित्य मे शोध को बढावा देने के लिए अभय जैन ग्रंथालय की स्थापना की। बीकानेर में ही पं. विद्याधर शास्त्री द्वारा हिंदी, राजस्थानी व संस्कृत में अनुसंधान को प्रोत्सान देने हेतु सन् 1956-57 ई. में हिंदी विश्वभारती अनुसंध

अंगरेजी शिक्षा का प्रसार

जुलाई, सन् 1818 ई. में दौलतराम् सिंधिया ने अजमेर-मेरवाड़ा अंग्रेजों को सौंप दिया तो तत्कालीन गवर्नर जनरल हेस्टिंग्स को राजपूताना में अंगरेजी शिक्षा प्रसार की बात सूझी। उसका विश्वास था कि मराठों और पिंडारियों की उत्पातभरी लूट-खसोट से यहां का सामाजिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो गया है और उसे अंगरेजी शिक्षा के प्रसार से पुनः सुसम्य बना जा सकता है।[1] इसलिए उसने अवध के नवाब वज़ीर ग़ाजीउद्दीन हैदर से खैरात के लिए मिले तीन हजार रुपयों में तीन हजार रुपए और मिला कर एक शिक्षा बजट तैयार किया और सीरामपुर के बैप्टिष्ट मिशनरी डॉ. जेवल केरी को शिक्षा अधीक्षक बना कर अजमेर भेज दिया।

डॉ. केरी ने अजमेर में पहला लकास्टेरियन स्कूल खोला।[2] यह स्कूल मई, 1819 ई. में खोला गया। दूसरा स्कूल पुष्कर मे खोला गया और अप्रैल-मई, 1822 ई. में दो और स्कूल भिनाय और केकड़ी में खोले गए। सन् 1827 ई. में अजमेर स्कूल के अलावा सभी स्कूल बंद हो गए। अजमेर स्कूल भी सन् 1831 ई. में बद हो गया। क्योकि उसके हिदी और फारसी, दोनों विभागों मे छात्रों की संख्या घट गई और परीक्षा–परिणाम बहुत असंतोषजनक रहा।[3]

वास्तव मे राजपूत राज्यों पर संरक्षण के बाद ईसाई धर्म–प्रचारकों ने अंगरेजी शिक्षा के माध्यम से ईसाइयत का प्रचार करना चाहा था। अंगरेज अधिकारियों को राजाओं से पत्र-व्यवहार फारसी में करना पड़ता था और उनसे विचार-विमर्श करना जरूरी होता था। इसलिए वे अपनी सहूलियत के लिए अंगरेजी को भाषा का माध्यम बनाना चाहते थे। स्वयं शासक और सामंत भी अंगरेज अधिकारियों से गुप्त मंत्रणा मे दुविधा अनुभव करते थे और दुभाषियों से मनचाही बात करने मे कठिनाई महसूस करते थे। इसी प्रकार व्यापारी वर्ग भी अंगरेज कंपनी और एजेटो से संपर्क के लिए अंगरेजी के प्रति आकर्षित हो रहे थे।

इसलिए अजमेर मे शुरू हुई स्कूलों के बंद हो जाने पर भी जब 1835 ई. में अंगरेजी को राजकीय भाषा घोषित किया गया तो पुनः अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत का प्रश्न उठा। इस पर गवर्नर जनरल की अनुज्ञा से बंगाल सरकार की जनरल कमेटी ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन की ओर से मारकस हरे को प्रधान अध्यापक बना कर भेजा गया और हिंदी-उर्दू के लिए दो स्थानीय अध्यापक नियुक्त किए गए और सन् 1936 ई. के मई माह मे पहला सरकारी स्कूल खुल गया।[4] कुछ समय इस स्कूल की प्रगति अच्छी रही, किंतु यह स्कूल भी नहीं चल सका। 1837 ई. में छात्र संख्या 219 थी जो 1840 ई. मे घट कर 143 रह गई और सन् 1842 ई. की परीक्षा में केवल 70 छात्र बैठे। वे भी प्रमोशन योग्य नहीं समझे गए। इसलिए स्कूल बद कर दिया गया।[5] उसके पुस्तकालय को भी आगरा भेज दिया गया।

सन् 1844 ई. में उत्तर–पश्चिमी प्रांतों के लिए बना शिक्षा विभाग कोलकाता से आगरा स्थानांतरित हो गया, किंतु अजमेर में शिक्षा–प्रसार के संबंध मे अगली कार्यवाही तत्कालीन गवर्नर टॉमसन की यात्रा के बाद सन् 1848 ई. में ही हो पाई। सन् 1846–1847 की शरद ऋतु में उत्तरी–पश्चिमी प्रांत के गवर्नर टॉमसन ने अजमेर की यात्रा की तो उसे जानकारी मिली कि जयपुर महाराजा रामसिह अंगरेजी पढे हैं और उन्होने जयपुर में अंगरेजी स्कूल खोल दिया है। किशनगढ के महाराजा कल्याणसिंह भी अंगरेजी पढ़ने के लिए ट्यूटर रखे हुए हैं जबकि ब्रिटिश प्रोविंस अजमेर में कोई स्कूल नहीं है।

इस पर भारत सरकार को पत्र लिखा गया और अजमेर में अंगरेजी शिक्षा के प्रति रुचि का ब्यौरा देकर पुनः स्कूल खोलने और उसे आगरा से सुपरविजन मे रखने का सुझाव दिया गया और यह भी लिखा गया कि आगरा डिविजन के पास शिक्षा बजट मे दस हजार रुपए हैं और आगे बजट स्वीकार कर दिया जाए तो स्कूल को कॉलेज स्तर पर क्रमोन्नत भी किया जा सकता है।[6] गवर्नर जनरल को ये सुझाव भेजे गए जिस पर कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने अपने पत्र क्रमाक-36, दिनाक 31 दिसंबर, 1847 को स्कूल खोलने व उसे कालांतर मे कॉलेज बनाने की स्वीकृति दे दी।[7] स्वीकृति के अनुसार 2 मई, 1851 को अजमेर का सरकारी स्कूल पुनः चालू हो गया जो 1868 ई. में इटरमिडिएट और सन् 1869 ई. में डिग्री कॉलेज बना दिया गया।[8]

राज्यों में प्रगति

अंगरेजों की तरफ से अंगरेजी शिक्षा की शुरुआत अजमेर में बहुत पहले (1818 ई.) कर दी गई, किंतु उन्हें नियमित स्कूल खोलने में सफलता सन् 1851 ई. में मिली। इससे पूर्व जयपुर के महाराजा रामसिंह (1835-1880 ई.) ने 1844 ई. में ही जयपुर में 'महाराजा स्कूल' की स्थापना कर दी।[9] हालांकि यह स्थापना ब्रिटिश गवर्नमेंट की उस नीति का ही फल थी जिसके अनुसार अल्पवयस्क नरेशों की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था सरकार करती थी, किंतु फिर भी जयपुर, अलवर और भरतपुर के महाराजाओं ने अपनी रियासतों में अंगरेजी शिक्षा-प्रसार में निजी दिलचस्पी ली। अलवर महाराव राजा बनेसिंह ने भी अलवर का स्कूल 1842 ई. में स्थापित किया जो 1870 ई. में हाईस्कूल बना। भरतपुर का आधुनिक स्कूल भी 1842 ई. में स्थापित हुआ, किंतु उसमें केवल फारसी पढाई जाती थी। स्कूल मे इंगलिश टीचर सन् 1862 ई. में रखा गया।[10]

महाराजा कॉलेज, जयपुर में आगरा कॉलेज के स्नातक पं. शिवदीन को प्रधानाचार्य बनाया गया और उसमें सन् 1847 ई. मे पहली बार परीक्षा आयोजित की गई तो छात्रो और अभिभावको में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। सन् 1866-67 ई. के सत्र मे यहां 26 शिक्षक थे जिनमें 11 अंगरेजी के, 11 फारसी के और 4 संस्कृत के थे और छात्र संख्या लगभग 800 थी।[11] यह कॉलेज अंगरेजी शिक्षा का डिग्री कॉलेज सन् 1888 ई. मे बना और पोस्ट डिग्री कॉलेज था।[12]

जयपुर, अलवर, भरतपुर की देखादेखी हाड़ौती, बूंदी, कोटा, झालावाड में भी अंगरेजी शिक्षा का प्रसार हुआ। जून, 1863 ई. में तत्कालीन एजेंट ने हाडौती शासको को व्यक्तिगत पत्र लिखे और उन्हे अपने यहां अंगरेजी शिक्षा लागू करने की सलाह दी।[13] फलस्वरूप बूंदी-नरेश ने 1863 ई. मे ही एक अंगरेजी स्कूल खोल दिया। झालावाड, नरेश ने पाटन और छावनी मे दो स्कूल खोले, किंतु कोटा-नरेश ने वित्तीय कठिनाइयों के कारण राजकीय व्यय पर अंगरेजी स्कूल खोलने में असमर्थता प्रकट कर दी।[14]

उदयपुर के महाराजाओं ने भी अंगरेजी शिक्षा के प्रति कोई रुचि नही दिखाई। उदयपुर के तत्कालीन एजेंट ईडन ने अंगरेजी के प्रति शासक और सामंतों की अरुचि को देख कर मई, 1862 ई. मे भारत सरकार के सामने एक

अंगरेजी स्कूल खोलने की योजना प्रस्तुत करके 25,000 रुपए का अनुदान मांगा था, किंतु उसे स्वीकार नहीं किया गया।[15] बाद मे गवर्नर जनरल से 12,000 रुपए भवन-निर्माण के लिए स्वीकृत होने पर मेजर ईडन ने महाराणा शभूसिंह (1861-1874 ई.) की नाबालिगी के समय जनवरी, 1863 ई मे 'शंभू रत्न पाठशाला' स्थापित की। इस पाठशाला में आरभ में हिंदी, फारसी और सस्कृत पढाई गई और सन् 1865 ई. मे अंगरेजी शुरू की गई।[16]

आबू, सिरोही में यूरोपियन रेजिडेंट्स रहते थे। यह रियासत मुम्बई के रास्ते पर होने से भी प्रगतिशील थी। यही कारण है कि राव उम्मेदसिह (1862-1875 ई.) ने नगर में बडी बिल्डिंग बनवाई और वहां दो स्थानीय तथा एक अंगरेज अजमेर से बुला कर तीन अध्यापक रखे। बाद मे राव राजा ने पोलिटिकल सुपरिटेंडेंट के सुझाव पर रियासत के चारों नगरो में भी स्कूल खोले।

जोधपुर, बीकानेर में आधुनिक शिक्षा का विचार पुराना है, किंतु जोधपुर का पहला 'एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूल' सन् 1869 ई. में शुरु हुआ और बीकानेर का 'वाल्टर नोबल स्कूल' सन् 1893 ई. मे। इसी प्रकार बांसवाडा, डूगरपुर, प्रतापगढ जैसी रियासतों मे अंगरेजी शिक्षा उन्नीसवीं सदी के अत मे ही शुरु हो सकी। जबकि जैसलमेर मे शिक्षा की शुरुआत बीसवी सदी में ही की जा सकी।

यहाँ उल्लेखनीय है कि राजस्थान के उक्त सभी राज्यों में राजकीय संरक्षण के अतिरिक्त निजी क्षेत्र में भी अगरेजी शिक्षा को बढावा मिला था। राज्यों का श्रेष्ठिवर्ग जो अंगरेजी भारत मे वाणिज्य-व्यापार मे कार्यरत था, में से अनेक लोगों ने राजस्थान में अपने मूल निवास वाले राज्यो मे बडी संख्या में एंग्लो-प्राइमरी स्कूलों की स्थापना की। अकेले बीकानेर राज्य मे सन् 1892 से 1933 ई. के मध्य बीकानेर, राजगढ़, रतनगढ, नोहर, भीनासर, बाघेला, डूगरगढ, सिधमुख व मोमासर, सुजानगढ, दूधवाखारा, देशनोक व गगाशहर आदि कस्बों में लगभग बीस एंग्लो-प्राइमरी स्कूल व पच्चीस के लगभग मिडिल स्कूल स्थापित कर रखे थे। इनमे अंगरेजी शिक्षा के पठन-पाठन की व्यवस्था थी।[17]

संकेत-संदर्भ

1. गवर्नर जनरल मिनिट, 7 नवंबर, 1818 ई. नेशनल आर्काइव्ज नई दिल्ली।

2. जोसेफ लकास्टर (1778-1838 ई.) नामक अंगरेज ने ईस्वी 1800 ई. के लगभग शिक्षा की एक नई विधि शुरू की थी। उस विधि में अध्यापक कुछ छात्रों को शिक्षा देता और वे अपने साथियों को सिखाते। इस पर सीखे छात्र पुनः अपने साथियों को सबक बताते। इस प्रकार एक ही अध्यापक एक हजार तक छात्रों को शिक्षित कर देता। इस शिक्षण विधि को "दी मोनिटरियल सिस्टम" अथवा 'लकास्टेरियन स्कूलिंग' कहा जाता है।

3 स्कूल न चलने का मुख्य कारण उसमें ईसाई धर्मग्रंथों का पढाया जाना था, परंतु स्थानीय अंगरेज अधिकारियों ने स्कूलों की असफलता के लिए धनाभाव, योग्य अध्यापकों की कमी और उच्च जातियो की रूढिवादिता को उत्तरदायी ठहराया। पोलिटिकल कंसल्टेशंस, 1832 ई. नं. 471, पैरा 68

4. देखे- फॉरेन डिपार्टमेंट पोलिटिकल कंसल्टेशन, 5 जुलाई, 1822 ई. नं. 41, जुलाई, 1864 ई. नं. 10-18, राजस्थान अभिलेखागार, कोटा भंडार नं. 3, बस्ता-85, वि. सं. 1890-1895, और श्री रामगोपाल मोहता अभिनंदन ग्रंथ, पृ. 20

5. जनरल रिपोर्ट, पब्लिक इंस्ट्रक्शन, बंगाल प्रेजीडेंसी, 1842-43 ई., पृ 276-77, स्कूल बंद करने के पांच कारण दिए गए। पहला– स्कूल का उद्देश्य पूरा न होना। दूसरा– प्रधान अध्यापक की बीमारी। तीसरा– नए प्रधान अध्यापक के लिए बजट न होना। चौथा– स्कूल–संचालन में वित्तीय भार अधिक होना और पांचवां– स्कूल के लिए निर्धारित लक्ष्यों में अव्यावहारिकता।

6. होम पब्लिक कंसल्टेशंस, 17 मई, 1845 ई., नं. 3, अप्रैल, 1847 ई., नं. 92ए और 19 फरवरी 1848 ई., नं. एक।

7. फिर भी स्कूल मई, 1851 ई. में खुला। क्योकि पर्याप्त बजट, स्थानीय कमेटी आदि के बनाने में काफी विलंब हुआ। जनरल रिपोर्ट, पब्लिक इंस्ट्रक्शन, बंगाल प्रेजीडेंसी, 1850 ई. और 1850-51 ई. मे इस संबंध में पूर्ण विवरण दिया गया है। विवरण के अनुसार 28 मार्च, 1851 ई. को गवर्नर जनरल के एजेंट कर्नल जे. लॉ की अध्यक्षता मे पांच सदस्यों की स्थानीय समिति बनी। इसके सचिव डॉ. सी. बुश बनाए गए, जो स्कूल के पहले अधीक्षक भी बने।

8 यह राजस्थान का पहला डिग्री कॉलेज था। –हरविलास शारदा, अजमेर, 1941 ई., पृ. 348

9. दी इंपीरियर गजेटियर ऑफ इंडिया– राजपूताना (1908 ई.) में महाराजा कॉलेज, स्थापना 1845 ई. में लिखी है किंतु पब्लिक इंस्ट्रक्शन, जयपुर, रिपोर्ट 1887 ई., 1904 ई. तथा नोट्स ऑन जयपुर 1909 ई. व दी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी कलैंडर, 1892-93 ई. में स्थापना वर्ष 1844 ई. ही दिया गया है।

10. अलवर, नीलसन डब्ल्यू. एच. 1897 ई. पृ. 18, पोलिटिकल एजेंट रिपोर्ट, 1864 ई. नं. 10-18, होम प्रोसिडिंग्स– शिक्षा, 13 जुलाई, 1864 ई. नं. 12वीं

11 एफ. एल. रीड– रिपोर्ट ऑन दी स्टेट ऑफ एज्युकेशन इन दी नेटिव स्टेट्स ऑफ राजपूताना, (1905 ई.) पृ. 9

12. जयपुर रेकार्ड फाईल नं. जी-4/15, 1880 ई.

13. हाडौती एजेंसी रिपोर्ट, पोलीटिकल कंसल्टेशंस, जुलाई, 1864 ई

14. झालावाड नरेश पृथ्वीसिह के नाम खरीता, 1 दिसंबर, 1863 ई. और कोटा महाराव रामसिंह के नाम खरीता, 26 जुलाई, 1863 ई.

15 पोलीटिकल कंसल्टेशन, जुलाई, 1862 ई., नं. 75

16. फॉरेन पोलिटिकल प्रोसिडिंग्स, अक्टूबर, 1862 ई, नं. 83 और राजपूताना गजेटियर्स, अर्सकाइन, मेवाड रेजीडेसी, 2 ए, पृ. 82

17 डॉ. गिरिजा शंकर शर्मा – मारवाड़ी व्यापारी (बीकानेर) 1988, पृष्ठ 147–148



ईसाई मिशनरी और शिक्षा-प्रसार

हालांकि 20 नवंबर, 1818 ई. को शांति और व्यवस्था के नाम पर कंपनी सरकार ने नसीराबाद छावनी कायम की थी किंतु धीरे-धीरे कंपनी सरकार का रियासतों में हस्तक्षेप बढ़ गया। राजपूत शासकों के साथ की गई अलग-अलग संधियो में भी ऐसी धाराएं रख दी गई थीं, जिनसे रियासतों के अंदरूनी मामलों में ब्रिटिश हस्तक्षेप अवश्यंभावी था। उदाहरण के रूप में बीकानेर महाराजा के साथ संपन्न संधि की 7वीं धारा में शासक के विरोधी सामंतो और प्रजाजनों को कुचलने मे सहयोग का प्रावधान था। डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ के साथ संपन्न संधियों की पांचवीं धारा ब्रिटिश सरकार से सलाह करके राजकाज चलाने से संबंध रखती थी, जबकि जयपुर और उदयपुर के शासकों से की गई संधियो में राजस्व का एक हिस्सा लेना भी प्रस्तावित कर दिया गया था।[1]

कालांतर में यह हस्तक्षेप इतना बढ गया कि उन्नीसवीं सदी में ही राजपूताना में अंगरेजी हुकूमत की तीन रेजीडेंसियां, पांच एजेंसी और एक कमिश्नरी स्थापित हो गई। शुरू में दिल्ली स्थित रेजीडेंट को राजस्थान की सभी रियासतों पर नियंत्रण का काम सौंपा गया था किंतु 1832 ई. में अजमेर में अलग राजपूताना रेजीडेसी बनी और 1845 ई. में ए.जी.जी. कार्यालय आबू (सिरोही) में खोल दिया गया। जयपुर एजेंसी सन् 1821 ई., कोटा एजेंसी सन् 1838 ई. और पश्चिमी राजपूताना एजेंसी 1839 ई. मे स्थापित की गई।[2]

इस प्रकार रियासतो को राजनीतिक शिकंजे में कसने के साथ-साथ ईसाई मिशनरियों ने राजपूताना में ईसाइयत के प्रचार का भी योजनाबद्ध काम किया। शुरू में ईस्ट इंडिया कंपनी का ईसाई मिशनरियों को खुला समर्थन था, किंतु कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के 7 सितंबर, 1808 ई. के डिस्पेच में कुछ निष्पक्षता का रुख अपनाया गया।[3] इसीलिए सन 1819 ई. मे जब डॉ. जेवल केरी को

अजमेर भेजा गया तो उसे स्पष्ट हिदायत दी गई कि वह वहां ईसाइयत का प्रचार और ईसाई बनाने का कोई प्रयास न करे, किंतु उस मिशनरी ने हिदायतों का पालन नहीं किया और अजमेर के चारों स्कूलों में मार्टिन के न्यू टेस्टामेंट (उर्दू) और गोस्पेल ऑफ मैथ्यू (हिंदी) की पढाई अनिवार्य कर दी गई। सन 1822 ई. में डॉ केरी को पुनः हिदायत भेजी गई और ईसाई धर्मशास्त्र पढाने की अनिवार्यता समाप्त करने के लिए कहा गया, किंतु कोई फल नहीं निकला तो सन 1827 ई. में पुष्कर, भिनाय और केकड़ी स्कूल बंद किए गए। सन 1831 ई. मे अजमेर स्कूल भी बंद हो गया। उसके साथ ही बैपटिष्ट मिशनरी के साथ भारत सरकार का शिक्षा-प्रसार मे सहयोग भी समाप्त हो गया।[4]

सन 1857 ई. मे प्रथम स्वतंत्रता संग्राम हुआ तो राजपूताना में ईसाई मिशनरी की गतिविधियां बंद हो गई, किंतु स्वतंत्रता संग्राम के विफल हो जाने पर पुनः नए सिरे से शिक्षा-प्रसार मे ईसाई मिशनरीज काम करने लगीं। कंपनी सरकार के स्थान पर ब्रिटिश सम्राट् की सत्ता-स्थापना के बाद अनेक ईसाई मिशनरी भी राजस्थान मे पहुंच गई। यूनाइटेड प्रेस्बिटेरियन मिशन सबसे पहले पहुचा। उसके बाद रोमन कैथोलिक्स दी मैथोडिस्ट्स और चर्च मिशनरी सोसाइटी, दी एंग्लीकन चर्च और दी सोसाइटी फॉर दी प्रापेगेसन ऑफ गोस्पेल मिशन पहुंचे।[5]

स्कॉटलैंड के ईसाई मिशनरीज को 1857 ई का भारतीय स्वतंत्रता संग्राम प्रभु यीशु के कोप के रूप में महसूस हुआ और उन्होंने माना कि भारत में ईसाइयत का माकूल प्रसार न करने का उन्हें प्रभू यीशु ने दंड दिया है। इस नई अनुभूति के परिचालन के लिए राजपूताने का क्षेत्र चुना गया। उनकी दृष्टि में यह सर्वाधिक विपन्न और अभावग्रस्त था और यहां राहत कार्य के रूप मे ईसाइयत का प्रचार किया जाना सर्वाधिक जरूरी था। इसलिए रेवरेंड स्टील और स्कूलब्रेड को सन 1859 ई. में भारत भेजा गया। उन्हें ब्यावर में मिशन स्थापित करने का आदेश दिया गया। तदनुसार वे नवंबर, 1858 ई मे मुम्बई पहुचे और ब्यावर के लिए रवाना हो गए। रास्ते मे बीमार हो कर स्टील एरनपुरा में मर गया किंतु स्कूलब्रेड 3 मार्च, 1860 ई. को ब्यावर पहुंच गया।[6]

स्कूलब्रेड ने ब्यावर के एक स्थानीय ईसाई बने चिंताराम के सहयोग से अगस्त, 1860 ई. में नया नगर (ब्यावर) में एक स्कूल खोल दिया। स्कूल मे अगरेजी के अलावा हिदी और उर्दू पढाने की भी व्यवस्था की गई। 1872 ई में

स्कूल में हरिजनों को भी प्रवेश दिया गया। उसका विरोध हुआ और स्कूल के दो-तिहाई छात्र स्कूल छोड गए।[7] स्थानीय व्यापारियों ने अपना एक अलग स्कूल खोला और स्कूलब्रेड के उत्तराधिकारी मेकालिटर ने रात्रिस्कूलों में लिखाई-पढाई के साथ-साथ सिलाई-बुनाई और कसीदे का प्रशिक्षण भी प्रारंभ करवाया।

महिला-शिक्षा में मिशन का कार्य महत्त्वपूर्ण था। उसके अनुकरण पर ब्यावर नगरपालिका ने एक स्कूल खोला और जैन समाज ने भी दो निजी स्कूल खोले। मिशन का स्कूल 'पिपलिया गर्ल्स स्कूल' भी क्रमोन्नत होकर आठवीं कक्षा तक हो गया। एक अन्य स्कूल भी खोला गया, किंतु चार वर्ष बाद जनता का विरोध कमजोर पड गया और अलग खोला स्कूल मिशन स्कूल में मर्ज कर दिया गया। किंतु मार्च, 1877 ई. में ब्यावर नगरपालिका ने एक नया स्कूल खोल दिया। इस प्रकार मिशन स्कूल और स्थानीय स्कूल मे प्रतिस्पर्धा चली जो अगले पंद्रह वर्षों तक चलती रही। आखिर नगरपालिका स्कूल मिशन स्कूल में शामिल हो गया और सन 1894 ई. में मिशन हाईस्कूल का छात्र इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की इंट्रेंस परीक्षा में सर्वप्रथम आया।[8] इसी बीच मिशन ने ब्यावर के चौतरफ जलवा, राजेयास, बलर, चांग और कलेवा मे वर्नाकुलर स्कूल खोले। सन् 1867 ई. तक मिशन स्कूलों की संख्या 18 होई और सन् 1872 ई. में पहली बार पारितोषिक वितरण का कार्यक्रम रखा गया जिसमें ए.जी.जी. कर्नल ब्रुक भी शामिल हुए। कार्यक्रम में छात्रों के अलावा ग्रामीण अभिभावकों को भी पगड़िया दी गई।[9] बाद में यह पारितोपिक कार्यक्रम प्रतिवर्ष होने लगा। वर्ष 1880 ई के पारितोषिक में 22 स्कूलों के लगभग एक हजार छात्र शामिल हुए और अजमेर-मेरवाडा के चीफ कमिश्नर मुख्य अतिथि बने।

मिशन ने प्रशिक्षित अध्यापकों की मांग पूरी करने के लिए 1892 ई. में ब्यावर में नोर्मल स्कूल खोला। पहले एक वर्ष का प्रशिक्षण पाठ्यक्रम रखा गया। बाद में सन 1895 ई. में उसे दो वर्ष का बना दिया गया। यह स्कूल सन 1913 ई. तक चलता रहा, जिसके बाद इसे ईसाई होस्टल में बदल दिया गया।[10] सितंबर, 1883 ई. में ब्यावर में औद्योगिक स्कूल खोला गया। उससे दस वर्ष पूर्व एक ईसाई अध्यापिका श्रीमती मार्टा ने गर्ल्स स्कूल खोला। सन 1891 ई. में मिशन गर्ल्स स्कूलों में 163 छात्राएं पढ रही थीं। इन स्कूलों मे लिखाई-पढाई के साथ-साथ सिलाई-बुनाई और कसीदे का काम भी सिखाया जाता था।

महिला–शिक्षा मे मिशन का कार्य महत्त्वपूर्ण था। उसके अनुकरण पर ब्यावर नगरपालिका ने एक स्कूल खोला और जैन समाज ने भी दो निजी स्कूल खोले। मिशन का स्कूल 'पिपलिया गर्ल्स स्कूल' भी क्रमोन्नत होकर आठवीं कक्षा तक हो गया। सन 1934 ई. मे वहां 200 महिलाएं पढ़ रही थीं जबकि वहां की एक हरिजन महिला स्कूल का महात्मा गांधी ने भी निरीक्षण किया था।[11]

ब्यापार को केंद्र बना कर दिया गया मिशन का शिक्षा-प्रसार कार्य बहुत फला-फूला। सितंबर, 1861 ई. में ही विलियम मार्टिन ब्यावर से नसीराबाद पहुंचे। वहां स्कूल खुला,[12] जो सन 1886 ई. में वहां छावनी का मिशन हाईस्कूल हो गया। नसीराबाद में भी वर्नाक्यूलर स्कूल, गर्ल्स स्कूल और महिला ट्रेनिंग स्कूल खोले गए। इसी प्रकार अजमेर मे शिक्षा-प्रसार का कार्य भी 1862 ई. मे शुरू कर दिया गया। वहां गर्ल्स स्कूल 1864 ई. में खुला और ग्राम स्कूलों में किरनपुरा, धानी, दोराई, गंगवाणा और पुष्कर स्कूल 1869 ई. तक चालू हो गए। यहां ग्राम–स्कूलों में मुफ्त पाठ्यपुस्तकें देनी शुरू की गईं। किंतु अजमेर में आर्यसमाज द्वारा शिक्षा-प्रसार शुरू कर देने से मिशनरीज को अबाध प्रवेश नहीं मिला।

टोडागढ, जयपुर, आशपुरा, देवली, उदयपुर, अलवर, जोधपुर, कोटा और पिपलोदा मे भी मिशन ने शिक्षा-प्रसार का कार्य किया। टोडागढ में मिशन 1863 ई. में पहुंच गया। जयपुर में महारानी की सफल चिकित्सा से प्रसन्न होकर महाराजा रामसिंह ने डॉ कोलिन वेलेंटीन को स्कूल खोलने की अनुमति दे दी, जिससे वहां गोस्पेल शिक्षा 1865 ई. में शुरू हो गई। उदयपुर में डॉ. जेम्स शेफर्ड नवंबर, 1877 ई. में पहुंचा और दस वर्ष बाद 1886 ई. में उसने वहां 'भील बॉयज होम' स्थापित करने में सफलता पा ली। अलवर में बेप्टिष्ट मिशन का काम था। उससे प्रेस्बिटेरियन मिशन को काम करने की सहूलियत मिल गई जबकि जोधपुर मे डॉ सोमर विले 1885 ई. मे पहुंचा और वहां मिशन का वर्नाक्यूलर स्कूल 1187 ई. मे खोला जा सका। इसी प्रकार कोटा और पिपलोदा में भी 19वीं सदी के अंत तक मिशन का शिक्षा-प्रसार हो गया।

अन्य मिशनरीज का कार्य

सन 1881 ई. में अजमेर रोमन कैथोलिक चैपेल (प्रार्थनालय) बना था। उस समय वहां दो सौ के लगभग कैथोलिक ईसाई रहते थे जो अजमेर रेलवे निर्माण के लिए आकर बस गए थे। डॉ. एम. ए. जकोपी के प्रयास से अजमेर

मे चैपेल का निर्माण हो गया, किंतु शिक्षा के लिए रोमन कैथोलिक स्कूल की स्थापना 1893 ई. में हुई। 1899 ई. मे सेंट मेरीज कोनवेट खुला। सन् 1913 ई. में मेरीज कोनवेट के साथ सेंट अन्सेलम हाई स्कूल और खोल दिया गया तथा महिला और पुरुष शिक्षा को अलग-अलग कर दिया गया। कालांतर में मेरी कोनवेंट सोफिया कॉलेज बन गया और सेंट एनजलो स्कूल (सेंट अन्सेलम स्कूल, जो जयपुर मे इस नाम से जाना गया) जयपुर में स्थानांतरित कर दिया गया। जयपुर में सेंट मेरी बॉयज स्कूल भी खोला, जो कालांतर में सेट जेवियर्स स्कूल बन गया।

दी मैथोडिस्ट मिशन ने भी शिक्षा-प्रसार में योगदान किया। इस मिशन ने 1847 ई. में अजमेर में अपना कार्यालय बनाया और प्राथमिक स्कूल शिक्षा के दोनों प्रकार के (गर्ल्स व बॉयज) स्कूल खोले। सन् 1901-02 ई. में इन स्कूलों से पढ़ कर अनेक छात्राओ ने यू. पी. शिक्षा विभाग की मिडिल परीक्षाएं पास कीं।[13]

इसके अलावा मैथोडिस्ट मिशन स्कूलों में सिलाई, कसीदाकारी आदि की शिक्षा दी गई और महिला अध्यापकों को दो वर्ष का अध्यापन प्रशिक्षण भी दिया गया जिसके लिए मिशन स्कूल को 1907 ई. में 600 रुपए वार्षिक की सरकारी सहायता मिली थी।[14]

निष्कर्ष रूप में ईसाई मिशनरीज ने राजस्थान में शिक्षा-प्रसार मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। हरिजनो को शिक्षा देना, महिला शिक्षा में पहल और गांवों में जाकर वहां शिक्षा शुरू करना इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। अजमेर को सेंटर बना कर मिशनरीज राजस्थान के कोने-कोने मे पहुंचा। अंगरेज अधिकारियो ने उन्हें खुला सहयोग किया। ए.जी.जी. और चीफ कमिश्नर रेंक के अंगरेज अधिकारियो ने भी मिशनरीज के काम में व्यक्तिगत रुचि ली। फलतः शिक्षा का प्रसार अजमेर-मेरवाडा की नकल पर सारी रियासतों मे फैल गया।

संकेत - संदर्भ

1. एचीसन, ए क्लेक्शंस ऑफ ट्रिटीज, एंगेजमेंट्स एंड अदर्स रिलेटिंग इंडिया एंड वर्किंग कंट्रीज, खंड-3, (1909 ई.)
2. पोलिटिकल कंसल्टेशंस, 16 अप्रैल, 1832, नं. 22, 14 नवंबर, 1838, नं. 27, राजपूताना रेजीडेसी रिकार्ड्स खंड-69, लेटर-133, पोलिटिकल

कंसलटेशंस 24 फरवरी, 1840, नं. 34 और इंपीरियल गजेटियर्स ऑफ इडिया, खंड-21, पृ. 142-43

3. शार्प, आई. एच. सेलेक्शंस फ्रीम एज्युकेशन रिकार्ड्स, (1920 ई.) पार्ट I पृ 4
4. फोरन प्रोसिडिंग्स, 5 जुलाई, 1922, नं. 40 व 41 और होम मिसलेनियस 1832 ई., नं. 471
5 जी. सी. वर्मा, मॉडर्न एज्युकेशन, पृ 57
6. यूनाइटेड प्रेस्विटेरियन मिशन, फर्स्ट रिपोर्ट 1862 ई., पृ 5-6
7. वही, पृ. 5
8 राजस्थान पुरालेख मे सुरक्षित, निदेशक सार्वजनिक शिक्षा, अजमेर की फाइल न 15, 1876 ई. मे प्रतिस्पर्धा संबंधी पत्र-व्यवहार देखा जा सकता है। अन्य विवरण के लिए मिशन की रिपोर्ट, 1884 ई आदि द्रष्टव्य है।
9 मिशन रिपोर्ट, ग्यारहवां वर्ष, 1872, पृ 8
10. वही, 55वी रिपोर्ट, 1916 ई., पृ. 2
11. मिशन रिपोर्ट-73, (1934 ई.) पृ. 7
12 रोमन कैथोलिक मिशन के कार्य के संबंध में फोरेन प्रोसीडिंग, 1899, 1905, 1907, 1909 ई. की फाईल नं. 178, 224, 227 और 362 देखें।
13. रीचटर जुलिस, हिस्ट्री ऑफ इंडियन मिशन, पृ 213
14 फॉरेन प्रोसिडिंग, 1907 ई., नं. 37-38

आर्यसमाज और अन्य समाजसेवी संस्थाओं का योगदान

स्वामी दयानंद ने चैत्र शुक्ल पंचमी, शनिवार, विक्रम संवत् 1932 (1875 ई.) को मुंबई में पहला आर्यसमाज स्थापित कराया और ज्येष्ठ शुक्ला 13, संवत् 1934 (1877 ई.) को दूसरा आर्यसमाज लाहौर में स्थापित कराया। संवत् 1936 (1879 ई.) में स्वामी दयानंद उदयपुर पहुंचे और वहां उन्होने एक ट्रस्ट बनाया जो स्टेट कौंसिल उदयपुर में रजिस्टर्ड हुआ। ट्रस्ट में 23 ट्रस्टियों को मनोनीत किया गया, जिन्हें लेकर बाद में परोपकारिणी सभा बनी।

कार्तिक अमावस्या, संवत् 1940 (30 अक्टूबर, 1883) को स्वामी दयानंद का प्राणांत हुआ तो परोपकारिणी सभा ने उनकी स्मृति में एक आश्रम का निर्माण किया जहां 1888 ई. मे एक स्कूल खोला गया। स्कूल को दयानंद आश्रम एंग्लो वैदिक स्कूल नाम दिया गया। अजमेर मे 8 फरवरी, 1888 को शुरू हुआ यह स्कूल आरंभ में छोटा स्कूल था और उसकी प्रबंध-समिति के अध्यक्ष हरविलास शारदा थे। 1892 ई में मिडिल होकर 1897 ई. में 500 स्कूली छात्रों का यह हाईस्कूल बना गया। 1940 ई. मे यहां 1500 छात्र थे और उसका बजट 700/- रुपए से 39,000/- रुपए वार्षिक हो गया था।

पं. मिट्ठनलाल भार्गव और पं. जियालाल शर्मा के प्रयासो से स्कूल की 1941 ई. में गोल्डन जुबिली मनाई गई तो उसे इंटरमिडिएट कॉलेज में क्रमोन्नत कर दिया गया। 1943 ई. में कॉलेज में वाणिज्य और कृषि विषय जुडे और 1946 ई. मे कॉलेज के प्रिंसिपल दत्तात्रेय वाल्वे बने। इस कारण कॉलेज की क्रमोन्नति के अनेक मार्ग खुल गए। 1951 ई. में यह डिग्री कॉलेज बना। 1959 ई. में उसमे विज्ञान और कृषि की डिग्री कक्षाएं जुडीं और सन् 1958 से वह पोस्ट ग्रेजुएट संस्था भी बन गया। वर्तमान में इसे आर्यसमाज शिक्षा समिति संचालित करती है और इसमें जीयालाल संस्थान के रूप में शिक्षक–प्रशिक्षण का एक कॉलेज भी जुड गया है।

राजस्थान निर्माण के बाद आर्यसमाज ने सीमावर्ती जिले श्रीगंगानगर

मे एक डी.ए.वी. स्कूल खोला जो कालांतर में आर्य भोपाल वाला हाईस्कूल बन गया, किंतु उसकी डिग्री कक्षाएं डी.ए.वी. कॉलेज के रूप में ही संचालित हैं। फतेहपुर शेखावाटी में आर्यसमाज के पैटर्न पर जांगिड वैदिक विद्यालय स्थापित किया गया। भरतपुर में आर्य कन्या विद्यालय खोला गया और बीकानेर मे दयानंद हाईस्कूल। इसी प्रकार दूसरी अनेक शिक्षण संस्थाएं आर्यसमाज द्वारा प्रवर्तित और संचालित हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि राज्यो मे शिक्षा के क्षेत्र मे आर्यसमाज जैसी संस्थाओं ने कोई भी शिक्षा–सस्थान खोला, उसको राज्यों की सामान्य जनता का समर्थन मिला। कुछ हद तक ईसाई मिशनरीज ने अपने धर्म के विस्तार हेतु शिक्षा–संस्थान खोलने का जो सहारा लिया, उसकी प्रतिक्रिया मे आर्यसमाज ने अपने वैदिक शिक्षण–संस्थान स्थापित कर दिये।

अन्य समाजसेवी संस्थाएं

आर्यसमाज के अतिरिक्त बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशको में राज्यो मे शिक्षा के क्षेत्र मे एक नवीन धारा का प्रवाह हुआ। महात्मा गांधी द्वारा अपने अफ्रीकी प्रवास के दौरान जो रचनात्मक कार्य प्रारंभ किए गए, उनका भारतीय चिंतन पर व्यापक प्रभाव पडा था। उनके भारत–आगमन के पश्चात् कांग्रेस ने अनेक रचनात्मक कार्यक्रमो को अपने हाथ मे लिया। राज्यों मे कांग्रेस की ओर से जो प्रजामंडल स्थापित थे, उनके कार्यकर्ताओ का महात्मा गांधी ने आह्वान किया कि वे अपने–अपने राज्यों मे अन्य रचनात्मक कार्यक्रमों के साथ नारी–उत्थान, बेसिक शिक्षा, प्रौढ शिक्षा व राष्ट्रभाषा या हिंदुस्तानी का प्रचार आदि के कार्यक्रम अपने हाथ मे लें। उसी आह्वान के फलस्वरूप राजस्थान में अनेक राज्यों के कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ताओं अथवा महात्मा गाधी के विचारों से प्रभावित अन्य लोगों ने उक्त रचनात्मक कार्य पूरे करने हेतु अनेक शिक्षा–संस्थान स्थापित किए जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उच्च शिक्षा की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण संस्थान बन गए। इनमे से अनेक शिक्षण–संस्थाओं ने महिला–शिक्षा के प्रचार–प्रसार मे अग्रणीय भूमिका निभाई। कुछ मुख्य सस्थान इस प्रकार थे–

विद्याभवन सोसाइटी, उदयपुर

डॉ. मोहनसिंह मेहता ने ई. 1931 मे विद्याभवन स्कूल की स्थापना की। आज इस सोसाइटी के अंतर्गत अनेक संस्थाए संचालित हैं। इनमे बेसिक स्कूल ई 1941, अध्यापक प्रशिक्षण कॉलेज ई. 1942 और हस्तोद्योग संस्थान ई. 1944 से संचालित हैं।

वनस्थली विद्यापीठ, निवाई

अप्रैल, 1935 में एक छोटे-से स्कूल के रूप में शुरू हुई महिला-शिक्षा की यह ज्योति आज प्रकाश-पुंज बन चुकी है। यहां महिलाओं को पंचमुखी शिक्षा दी जाती है। विद्यापीठ यूनिवर्सिटी बन चुकी है।

राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

ई. 1937 में जन्मी राजस्थान विद्यापीठ पंडित जनार्दनराय नागर की कीर्तिलता है। वर्तमान में प्रौढ शिक्षा, श्रमजीवी कॉलेज, समाजशिक्षा जनता कॉलेज, जनपद चल पुस्तकालय, डबोक स्कूल और साहित्य संस्थान के रूप में विद्यापीठ में बहुविधा प्रवृत्तियों का संचालन हो रहा है और यह विद्यापीठ अपनी एक शोध पत्रिका भी प्रकाशित करती है।

ग्रामोत्थान विद्यापीठ, संगरिया

राजस्थान के मरु-जांगल प्रदेश में शिक्षा का बीड़ा उठाने वाला जाट स्कूल ई 1917 में शुरू हुआ था, किंतु उसे फाजिल्का साधु आश्रम के महंत स्वामी केशवानंद के संचालन में संवत् 1933 में ग्रामोत्थान विद्यापीठ नाम मिला और तदुपरांत एक साधु के बड़े कार्य-के रूप में यह निरंतर बढता रहा। आज वहां कृषि कॉलेज, कला-विज्ञान कॉलेज के अलावा महिला-शिक्षा का कॉलेज है। उच्चतर माध्यमिक विद्यालय और प्रशिक्षण कॉलेज हैं। सर छोटूराम स्मारक संग्रहालय, पुस्तकालय तथा क्राफ्ट ट्रेनिंग स्कूल हैं।

बीकानेर रियासत काल में इस विद्यापीठ ने मरुभूमि में सेवा कार्य के रूप मे गांवों में शिक्षा और चिकित्सा के लिए 43 स्कूल मय चिकित्सालय खोले थे जो ई. 1943-44 से आरंभ हुए और तीन सालो तक काम करते रहे। कुछ स्कूल स्वतंत्रता के बाद भी संचालित होते रहे।

महिला मंडल, उदयपुर

दयाशंकर श्रोत्रिय और कमला श्रोत्रिय के प्रयासो से ई. 1938 में महिला मडल की स्थापना की गई। उदयपुर की यह महिला जागृति का संस्थान आरंभ से ही बहुमुखी प्रवृत्तियों का संचालन करता रहा है। आदिवासी महिलाओं मे जागृति लाने में संस्था का योग विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

सावित्री महिला कॉलेज, अजमेर

ई. 1913 मे अजमेर के सरकारी कॉलेज मे श्रीलालजी श्रीवास्तव की

नियुक्ति हुई तो उनकी धर्मपत्नी रामप्यारी चंद्रिका भी अजमेर आ गई। उन्हें यह जान कर बेहद आश्चर्य हुआ कि अजमेर मे महिलाओ के लिए एक भी प्राइमरी स्कूल तक नहीं है। उन्हें यह सहन न हुआ और उन्होंने किराए के मकान में 4 फरवरी, 1914 ई. को एक गर्ल्स स्कूल चालू कर दिया। कुछ दिनो बाद यह सावित्री पाठशाला केशरगंज मोहल्ले में पहुंची और शनै-शनै. प्रगति करते हुए ई. 1930 में मिडिल स्कूल बन गई। बाद में म्युनिसिपल बोर्ड से प्लाट लेकर सावित्री स्कूल का निजी भवन बना और मिडिल स्कूल क्रमशः हाईस्कूल, इंटरमिडिएट कॉलेज से कॉलेज तक क्रमोन्नत होती गई।

महिला शिक्षा, हटूंडी

ई. 1927 में हटूंडी में गांधी आश्रम बना और ई. 1945 तक वह राजनीति के साथ राष्ट्रीय एवं रचनात्मक गतिविधियों का केंद्र बना रहा। ई. 1945 में वहां महिला शिक्षा सदन बनाने का निर्णय हुआ और श्रीमती भगवतीदेवी उपाध्याय के प्रयत्नो से वहां शिशुशाला खुली जो बाद मे बहुउद्देश्यीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के रूप में क्रमोन्नत हो गई।

इन शिक्षा संस्थानों ने तत्कालीन राज्यो में शिक्षा-प्रसार का व्यापक कार्य किया।[1]

इसी प्रकार प्रवासी राजस्थानियो ने भी राज्य मे शिक्षा के प्रसार में अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान देते हुए अनेक शैक्षिक सस्थान स्थापित किए, जो इस प्रकार थे-

बिरला एज्युकेशन ट्रस्ट, पिलानी (जयपुर)

सेठ शिवनारायण बिरला ने अपने पौत्र रामेश्वरदास और घनश्यामदास की शिक्षा के लिए प्रबंध किया तो एक प्राइवेट स्कूल का जन्म हुआ जो कालांतर में एक पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज के रूप में विकसित हो गया। यह स्कूल ई. 1916 में अपर प्राइमरी एंग्लोवर्नाक्यूलर स्कूल मे रूप में मान्य हुआ और ई 1922 मे मिडिल स्कूल बन गया। ई. 1925 में उसे हाई स्कूल बना दिया गया और ई 1929 में इंटरमिडिएट कॉलेज, किंतु डिग्री कॉलेज बनने मे उसे 14 वर्ष लगे।

ट्रस्ट ने जयपुर, जोधपुर, पटियाला और जींद रियासतो में 400 के लगभग प्राइमरी स्कूलें चलाईं और दो लाख रुपए के वार्षिक बजट से 18,000 छात्रो की शिक्षा-व्यवस्था की।[1] वर्तमान में शिशु कक्षा से स्नातकोत्तर कक्षा तक

कला, विज्ञान और वाणिज्य के तीनों सकायों की शिक्षा दी जाती है। पिलानी में इजीनियरिंग, टैक्सटाइल टेक्नोलॉजी और विज्ञान की उच्च शिक्षा का प्रबंध है और यह संस्थान यूनिवर्सिटी बन चुका है।

बिरला एज्युकेशन ट्रस्ट की तरह मुम्बई के प्रवासी राजस्थानियो ने शेखावाटी शिक्षा मंडल का गठन किया जो बाद में राजस्थान शिक्षा मंडल, मुम्बई के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस शिक्षा मंडल के जरिए शेखावाटी क्षेत्र मे 27 स्कूले संचालित थीं। ई. 1931 में इन स्कूलों में 1650 छात्र और 250 छात्राएं पढती थीं। ई. 1947 में स्कूलों की संख्या 25 थी, परंतु वे क्रमोन्नत हो गई थीं और वार्षिक खर्च भी 20,000/- रुपए से 80,000/- रुपए हो गया था। जब राजस्थान में शिक्षा मंडल बना, तब कोलकाता की मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी ने भी ई. 1914 से 1927 तक कुछ स्कूले संचालित की थीं। इसी प्रकार रामगढ शिक्षा मंडल, सीकर, सेठ नागरमल जालान ट्रस्ट, रतनगढ आदि दूसरे संस्थान भी शिक्षा-प्रसार में योगदान करते रहे हैं।

इनके समानांतर उस समय बिडला एज्युकेशन ट्रस्ट द्वारा तीन कॉलेज सचालित थे। नवलगढ़ मे पोद्दार कॉमर्स कॉलेज था। उदयपुर में सेक्सरिया ट्रेनिंग कॉलेज था। खंडेलवाल, अग्रवाल, माहेश्वरी, जैन, पारीक आदि के सात स्कूल अकेले जयपुर मे क्रमोन्नत हुए। जोधपुर में भी ओसवाल, कायस्थ और मालियों के हाईस्कूल थे। बीकानेर मे रामपुरिया और जैन समाज के दो कॉलेज क्रमोन्नत हुए। शेखावाटी के प्रत्येक कस्बे मे हाईस्कूल या कॉलेज बन गए।

संकेत - संदर्भ

1. उक्त सातों शिक्षण–संस्थानो के वार्षिक प्रतिवेदनो का अवलोकन किया जा सकता है; वनस्थली विद्यापीठ, एनुअल रिपोर्टस एण्ड ब्रोस्योर (1936 व उसके बाद के)
2. डाइमंड जुबली सोविनर, बिरला एज्युकेशन ट्रस्ट, पृ. 5
3. जानकारी के लिए उक्त संस्थानो के उपरोक्त सभी निजी क्षेत्र में स्थापित शिक्षण–संस्थानों ने अपनी स्मारिकाएं प्रकाशित कर सभी सूचनाएं दी है।



समाहार

राजस्थान में *शिक्षा (ई. 1818—1950)* के प्रारंभ में उपर्युक्त पूरे काल के परिदृश्य की जानकारी के लिए राजस्थान एवं उससे बाहर अवस्थित अभिलेखागारो के अभिलेखीय एवं गौण स्रोतों के साथ ही राजस्थान में अपना शैक्षिक विस्तार करने वाली सामाजिक, धार्मिक एवं शैक्षिक सस्थाओ के अभिलेख—स्रोतों की संक्षेप मे जानकारी प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार राजस्थान मे राजपूत राज्यो की स्थापना से पूर्व जो राजनीतिक परिदृश्य और राजपूतकाल मे जो शैक्षिक वातावरण था उस पर चर्चा की गई है। उसके बाद मुस्लिम और मुगलकाल में यहां राजपूत राज्यों की स्थापना के पश्चात् इन राज्यो में विशेष रूप से उन्नीसवीं सदी के अंत तक जो परंपरागत शिक्षा प्रचलन मे थी, वह काफी रोचक है।

राज्यो मे अंगरेजी सत्ता के प्रभावशाली होने के बावजूद उक्त परंपरागत शिक्षा—पद्धति राजकीय एवं निजी स्तर पर काफी प्रभावी रूप से विद्यमान रही। राज्यो में प्रारंभ मे शिक्षा के प्रति अधिक रुचि न होने के कारण राज्यो की तरफ से कुछ अपवादो को छोड शिक्षा का विशेष प्रबंध नहीं था। आम जन अपने-अपने पेशे मे उपयोगी साबित होने वाली शिक्षा में रुचि रखने के कारण परंपरागत शिक्षा देने वाली संस्थाओं में ही अपने पुत्रों को शिक्षा दिलवाने मे अधिक रुचि लेते थे। इन संस्थाओं (पोसालों) मे जिस प्रकार अक्षर-ज्ञान, गणित व सामान्य-ज्ञान दिया जाता था, वह आज के संदर्भ मे अत्यंत रुचिकर लगने वाला है। मारवाड क्षेत्र मे छोटे—छोटे बच्चों को अक्षरज्ञान करवाने के लिए प्राय: प्रत्येक पोसाल मे मार्जा लोग 'कक्को केवडो' नामक महारणी बच्चो को रटाया करते थे।

इसी प्रकार प्रारंभिक गणित-ज्ञान भी पहाडो को मुहबोलते मुहावरो के माध्यम से याद करवा दिए जाते थे। छोटे बच्चे उन्हे बडी लगन से याद कर लेते थे। *हिसाब-किताब की प्रारंभिक जानकारी के लिए तो विधि से विभिन्न* प्रकार के पहाडे याद करवाए जाते थे, जो आधुनिक केलकुलेटरो की कार्य-प्रणाली

को भी टक्कर देने में समर्थ होते थे। जयपुर राज्य मे बच्चों को पहली पुस्तक में ही तत्कालीन प्रचलित सिक्कों, उन सिक्कों से बडे सिक्कों के अनुपात में निर्धारित दरें, तोल की दरें और समय आदि का ज्ञान भी करवा दिया जाता था। यह प्रारभिक शिक्षा जीवन की अधिकांश आवश्यकताओ को पूरी करने में सक्षम थी।

परंपरागत शिक्षा-प्रणाली में संस्कृत एवं फारसी भाषा का भी विशेष स्थान था। राजस्थान में जयपुर और उससे सटे शेखावाटी क्षेत्र का संस्कृत शिक्षण में विशेष महत्त्व बना हुआ था। दूसरे राज्यों में भी सस्कृत–शिक्षण का अच्छा प्रबंध था। उन्नीसवी सदी में राज्यों मे राजकीय एवं निजी, दोनो स्तर पर परंपरागत संस्कृत-शिक्षण होता था। धर्म-कर्म, ज्योतिष एवं आयुर्वेद मे उपयोगी इस भाषा-शिक्षण को काफी प्रोत्साहन भी मिला। यद्यपि अंगरेजी शिक्षण-पद्धति अपना लेने के पश्चात् राज्यों में इसका पूर्व के समान महत्त्व नहीं रहा। राजपूत राज्यों में फारसी भाषा के शिक्षण पर राज्य-स्तर पर विशेष ध्यान नही दिया गया। केवल कुछ राज्यों में मकतब व मदरसो मे इस भाषा का शिक्षण अवश्य होता था। इसके प्रचलन का एक कारण यह भी था कि राज्यों के मुस्लिम, पुराने मुंशी परिवार व बनिए उर्दू-फारसी के शिक्षण मे रुचि रखते थे। इसी के परिणामस्वरूप जयपुर, अलवर, भरतपुर, कोटा, टोंक आदि के मदरसों मे छात्रों की पर्याप्त संख्या रहती थी।

राजस्थान मे राजपूत राज्यों मे 18वीं सदी–पूर्व तक वहां के शासक एव सामंत अपने बच्चों को घरों में परंपरागत रूप से प्रचलित शिक्षा ही दिलवाते थे, किंतु राज्यो मे अंगरेजी सत्ता के प्रभाव व प्रसार के बाद अनेक राज्यों के शासको ने आधुनिक शिक्षा-पद्धति पर आधारित शिक्षण सस्थाएं खोलीं और उनमें अपने पुत्रों को भेजना प्रारंभ किया। किंतु कुछ ही समय बाद इन स्कूलो मे मध्यम वर्ग के छात्रो के साथ अपने पुत्रो को पढाना उन्हे रुचिकर नहीं लगा। इसी समय अनेक राज्यो मे छोटी अवस्था में शासक बन जाने के कारण यहां राजकाज को चलाने के लिए रीजेसी कौंसिल स्थापित कर शासन चलाने की परपरा डाली गई। इन कौंसिलों मे अंगरेज सरकार का पूरा हस्तक्षेप रहता था। फलस्वरूप राज्यो के उन छोटी उम्र के शासको की शिक्षा का जिम्मा भी अंगरेज सरकार का ही हो जाया करता था। इसी उद्देश्य से भारत की अंगरेज सरकार के राजपूताना-प्रतिनिधियों ने यहां के विभिन्न राज्यो के शासको से आर्थिक सहायता प्राप्त कर अजमेर मे अक्टूबर, 1875 ई. मे मेयो कॉलेज की स्थापना की। इस कॉलेज मे ही राज्यों को अगरेजी-पद्धति पर हर प्रकार की शिक्षा देना

प्रारंभ कर दिया। ई 1885 मे इस कॉलेज के भवन का उद्घाटन करते हुए लार्ड इर्विन ने शासको को भारतीय परंपराओ के अनुरूप ढालने का आग्रह किया था। किंतु अंदरखाने राज्यो में अंगरेजी सोच का समर्थन व पद्धति को अपनाने वाला एक नया शासक वर्ग स्थापित करने का निश्चय किया। इसी के अनुरूप राज्यो के शासकों के राजकुमारो और अन्य सामंतों के वच्चों के लिए यह कॉलेज शिक्षा-प्राप्ति का एक बडा केंद्र बन गया।

इसके बावजूद अनेक राजपूत, यथा उदयपुर, बांसवाडा व जोधपुर के शासक हिदू शास्त्रो मे वर्णित तथा अपनी परंपरागत शिक्षा-पद्धति के पक्षधर बने रहे। उनके द्वारा मुगल बादशाहो की तर्ज पर स्थापित पोथीखाने आगे जाकर शोधकार्य मे सहायक बने।

जब ई. 1818 मे राजस्थान के मध्य मे स्थित अजमेर-मेरवाडा पर अंगरेजों का अधिकार हो गया तो ब्रिटिश हुकूमत ने राजस्थान के सभी राज्यो मे अपना प्रभाव बढाने के लिए अंगरेजी का प्रचार-प्रसार करने का निश्चय कर लिया। अजमेर को इसका केंद्र बना कर प्रारंभ मे जयपुर, भरतपुर, अलवर, कोटा, बूंदी, झालवाड, जोधपुर, बीकानेर व उदयपुर आदि राज्यो के शासको से अपने-अपने राज्यो में अंगरेजी-पद्धति के आधुनिक स्कूल स्थापित करवा दिए। उदयपुर ने जब आनाकानी की तो उसे अगरेज सरकार की ओर से स्कूल भवन बनाने के लिए 12,000 रुपए अनुदान दे कर मदद की। इस प्रकार 19वीं सदी तक लगभग सभी राज्यो मे अंग्रेजी पढाने की थोडी-बहुत व्यवस्था हो गई।

यहा यह उल्लेखनीय है कि अगरेज अधिकारियो के संरक्षण में ईसाई मिशनरियो ने सदी के प्रारंभ से ही ईसाइयत का प्रचार करने का योजनाबद्ध ढग से प्रसार कर दिया था। प्रारंभ मे तो उन्हे सफलता नहीं मिली, किंतु ई 1857 के बाद से विदेशों से आई विभिन्न मिशनरीज अजमेर-मेरवाडा को अपना मुख्य केंद्र बना कर जयपुर, उदयपुर, अलवर, जोधपुर, कोटा आदि राज्यों में अपने शैक्षिक संस्थान खोलने मे सफल हो गई। इन मिशनरीज स्कूलो में हरिजनो और महिलाओ को भी शिक्षा देने के प्रावधान के साथ गावों तक शिक्षा-प्रसार कर डाला। यह राजस्थान के विभिन्न राज्यों मे शिक्षाप्रसार के इतिहास मे एक सशक्त प्रयास कहा जा सकता है।

लगभग इसी समय के आस-पास स्वामी दयानंद सरस्वती के प्रयास से ई 1879 मे उदयपुर मे स्वदेशी जनजागरण के तहत परोपकारिणी सभा स्थापित हुई। स्वामी दयानद सरस्वती की ई. 1883 में मृत्यु के पश्चात् परोपकारिणी सभा ने स्वामी दयानंद की स्मृति मे उनकी शिक्षाओ के अनुरूप ई.

1888 मे एक आश्रम बनवा कर वहां एक स्कूल भी खोला। राजस्थान में ईसाई मिशनरियों के क्रियाकलापो की प्रतिक्रिया के रूप मे अजमेर के इस एंग्लो-वैदिक स्कूल के विकास के साथ राजस्थान के अनेक भागों में इस प्रकार के शिक्षण--संस्थान खोले गए। अजमेर में आर्यसमाज द्वारा शिक्षा-प्रसार करने के फलस्वरूप मिशनरीज को काफी परेशानी उठानी पड़ी और अजमेर क्षेत्र में उनकी इच्छानुसार शिक्षा का विस्तार नहीं हो पाया।

इसी क्रम में स्वतंत्रतापूर्व राजस्थान के राज्यों में शिक्षा-प्रसार की एक अन्य लहर भी चली जो स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी निरंतर प्रगति करती चली गई। महात्मा गांधी द्वारा अपने अफ्रीकी प्रवास के दौरान जो रचनात्मक कार्य प्रारंभ किए गए थे, उनका भारतीय चिंतन पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा। उनके द्वारा भारत अपना कार्यक्षेत्र बना लेने के बाद तो उनके आह्वान पर राजस्थान के राज्यों सहित अन्य भारतीय राज्यों में अनेक राजनीतिक सुधारों के साथ बेसिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, नारी-उत्थान व राष्ट्रभाषा या हिंदुस्तानी का प्रचार कार्य प्रारंभ हुआ। इसी संदर्भ मे कांग्रेस से जुडे अनेक नेताओं ने अपने-अपने राज्यों एवं कार्यक्षेत्रों में महिला-शिक्षा, प्रौढ़-शिक्षा के साथ हिंदी के विकास हेतु अनेक शैक्षणिक संस्थान खोल कर इस दिशा में राजस्थान में शिक्षा के क्षेत्र में अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्वतंत्रता--प्राप्ति के बाद तो उक्त शिक्षा-संस्थान इतनी प्रगति कर गए कि राज्य सरकार ने उन्हे विश्वविद्यालय का दर्जा तक दे दिया। इस प्रकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् राज्य के शासकों द्वारा शिक्षा के प्रति अधिक रुचि न लेने पर भी राज्यो में अंगरेज-सत्ता के बढ़ते प्रभावस्वरूप उपर्युक्त वर्णित अनेक माध्यमों से शिक्षा का पूर्व की अपेक्षा काफी प्रसार हुआ और कहना गलत न होगा कि उन्हीं की नींव पर राजस्थान का वर्तमान शैक्षिक ढांचा खड़ा होने में सक्षम हुआ।

परिणाम स्वरूप स्वतंत्रता--प्राप्ति के दो--तीन वर्षों के भीतर ही राजस्थान मे ई. 1953 तक राजकीय स्तर पर आठ डिग्री कॉलेज, 20 इंटर कॉलेज, 113 हाईस्कूल, 540 मिडिल स्कूल और 3540 प्राइमरी स्कूल अस्तित्व मे आ चुके थे। इनमें से ई. 1949 मे 400 प्राथमिक, 50 मिडिल और 25 हाईस्कूले खुलीं। ई 1950 में इतनी ही नई स्कूलें खोल दी गईं और 1951--52 में 20 हाईस्कूले क्रमोन्नत कीं और 6 नए इंटर कॉलेज खोले गए थे।

संकेत - संदर्भ

1. गुलाबचन्द काला -- राजस्थान परिचय ग्रन्थ 1954, पृ 225



परिशिष्ट

राज्य की पाठशालाओं में परंपरागत मौखिक शिक्षण-पद्धति के कुछ उदाहरण

राजस्थान मे परम्परागत शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत पाठशालाओं मे पढने से पहले लिखने का उपक्रम सिखाया जाता था तब उस क्रम मे उन्हे स्वरो का ज्ञान करवाने के लिये लिखने के साथ प्रत्येक स्वर का उच्चारण करवाया जाता था। इसी प्रकार जब व्यंजन सिखाये जाते थे, तब उनको भी उच्चारण विधि के अनुसार वर्गीकरण करके पढाया जाता था। इसके लिये राजस्थान के विभिन्न राज्यों मे जो भिन्न–भिन्न आचलिक उपभाषाये प्रचलन में थी, उनमें बालकों को बारहखडी को विभिन्न प्रकार की कविताओ, दोहों आदि के रूप में याद करवाया जाता था। अनेक राज्यो मे इस प्रकार की कविताओ और दोहों पर राजस्थान से बाहर के उनसे सटे अंग्रेजी भारत के क्षेत्रो में प्रचलित इसी प्रकार की कविताओं आदि का भी प्रभाव पडता रहता था। बालक इन बारहखडियों को रटकर याद करने में खूब आनन्द लेते थे।

बारहखड़ी सीख लेने के पश्चात संयुक्ताक्षर सिखाने के लिये अध्यापक को विशेष विधि अपनाने की अपेक्षा सिद्धोवर्णा नामक एक सस्कृत सूत्र को रटा दिया करते थे। इस सूत्र का नाम संस्कृत की भाषा के "कलाप व्याकरण" के प्रारभिक शब्द के पहले अक्षर से लिया गया था। इस व्याकरण में हर प्रकार के संयुक्ताक्षरों से बने शब्द मिलते हैं। इसे भी बालको को संस्कृत की अपेक्षा अंचल विशेष की उपभाषा मे रटा दिया जाता था। इससे बालको को संयुक्ताक्षर के कठिन शब्द तक लिखने में सहायता मिल जाती थी।

भाषा सिखाने मे उपरोक्त शिक्षण विधि अपनाई जाती थी, जबकि वैसी ही विधि पाठशालाओ मे बालकों को अंकगणित सिखाने मे की जाती थी। इसके लिए बालको को प्रारभ मे मौखिक अकगणित पर जोर दिया जाता था और सभी गुर जबानी याद करवाये जाते थे। प्राय चालीस तक के पहाडे भी गिनती की तरह रटकर बालक याद कर लेते थे। इस प्रकार पूरे अंक के पहाडे याद कर लेने पर भिन्न के पहाडे भी सिखाये जाते थे। पौआ, पौना, सवैया, ड्योढा, ढैया, हूँठा (साढे तीन) ओर ढ्योचा (साढे चार) आदि के पहाडे सिखाने पर जोर दिया जाता था। ये बालक स्थानीय भाषा में कविता बनाकर गाते और याद कर लेते थे। रटकर याद करने की यह परम्परा राजस्थान के सभी ग्रामीण और शहरी

क्षेत्र की पाठशालाओं, पोसालों व उर्दू–फारसी के मकतबों में अपने–अपने ढंग से प्रचलन में थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राज्य की प्राथमिक पाठशालाओं मे पहाडे, भिन्न पहाडों के बाद रुपये, आने, पाई, मन, सेर, छंटाक और पैमाइसी नापो के जोड़ –बाकी गुणा, भाग व उनके गुर भी सिखलाये जाते थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दाम जोडने, नाप जानने, और बट्टा, सूद आदि निकालने की भी जानकारी दी जाती थी। हम यहाँ पाठकों की जानकारी के लिए भाषा व गणित सीखने के स्थानीय भाषा के रटने के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे है।

पाठशालाओं पोसालों में अक्षर-ज्ञान का परंपरागत तरीका

राजस्थान की पोसालों में प्राथमिक स्तर के बच्चों को हिंदी के अक्षर-ज्ञान और उन्हें याद कराने का परंपरागत तरीका इस प्रकार था :–

पढाई के समय राजस्थानी के इस कक्कै केवड़े से हाओलै हिडांओलै तक के सभी अक्षरों के साथ कुछ विशेष बोल रटाए जाते थे। इन बोलों को हम अक्षर-ज्ञान की पढाई कह सकते हैं। 1920 में 'सौरभ' पत्र में डिंगल के सुप्रसिद्ध विद्वान किशोरसिंहजी बारहठ ने इन भणतों का विवेचन करने का प्रयास किया। ऐसा लगता है कि या तो किशोरसिंहजी ने विवेचन करते समय इन भणतो को थोडा दाएं–बाएं कर दिया या फिर मारवाड़ और शाहपुरा की पोसालों में उन्नीस-बीस का अंतर था। किशोरसिंहजी ने जो भणतें विश्लेषण के साथ लिखीं और आज से पचास वर्ष पहले तक की पोसालों में प्रतिदिन रटाई जाने वाली भणतें इस प्रकार हैं–

आखर	आखर री भणत		भणत री म्यांनौ,
क	कक्को केवड़ो/क को केवल्यो	क	क कोरो आखर इज है
ष	षो षाजूलौ/ष षा षुणी चीरियौ	ष	दोनां खुणां सूं चिरियोड़ो है
ग	गा गोरी गा हे/ग गो गोरी गाय		... ...
घ	घघ्घा घोट पिलाणैजा/घ घो घोट पिलाण्या	घ	घोड़े री काठी जेड़ो है
ङ	रंडिया रामण दूमणा/ङ ङो आगड़ दूमणा	ङ	ऊंदै सूंदै आकार रो है

च चिडै चिडै री चांच है/च चौ चिडी की चांच	च चिडी री चूंच ज्यूं है
छ चिछिया पिछिया पोटला/छ छो भुज्यां का पोटला	छ री आक्रत भुज्यां री पोट ज्यूं है
ज जेर जजो बाणिया/जजी जेहर बाण्या को	....
झ झझ्झा जेरी सारकडी/झ झा जी की हांसली	....
ञ ञनियों खांडो चंदरमा/ञ ञो खांडौ चन्दरमा	ञ री आक्रत खांडै चन्दरमां ज्यूं है
ट टाटडी पिटेकडी/ट टों हाळी पोळी	....
ठ ठठ्ठा ठे पर गाडोलो/ठ ठा ठेर गुडावणो	ठ गुडावण जोग मोट जेडी है
ड डड्डा हूंणी गाठ/ड डा डावर गाठोडी	ड मै पाणी रै खाडै जेडौ गोळ गांठ है।
ढ ढढा हूणौ पूंछडो/ढ ढा ढूंगर	ढ रै छेड़ै में गाठ है
ण राणै झाणै तेल है/ण णा जी के तीन रींगटी	ण रै तीन लींगटियां व्है
त तत्ता ताओ तेल है/त तो तंबोली तांबो	....
थ थथ्था थोस थाओली/थ थो थावरियो	....
द ददियो दीवटो/द दो दीवाल्यां दीवटियौ	द री आक्रत दीयाळी रै दीयै ज्यूं है
ध धधियो धाणको/ध धो धनख चोड्यां जाय	ध अेडो है जाणै कवाण ताण राखी व्है
न नैनियो फुलाइडौ/आगै न नो भाग्यौ जाय	....
प पा पाट्टै जा/प पा पाटकडी	प हींडै री पाटकडी ज्यूं है
फ पप्पा पगलै जोड़ै जा/फ फा फलियार को	....

ब	बब्बारी मै चांदणो/ब वा बाडी बेगणा	ब	है जाणै वाडी में बिन्ताक
भ	भाभजी भटार को/भ भो मूठ कटार की	भ	री बिणगट कटार री मूठ ज्यूं है
म	माम साई मोडको/म मा लेखण सारकी	म	री आक्रत त्र दाईं है
य	रायजादो पेटको/य यो जोड़ा पेटको	य	री तूंद धकै निकळ्योड़ी है
र	राई वाळो रांकलो/र रो रावत		....
ल	लल्ला घोडी लात पा/ल ला बछेरी कूदेली	ल	कूदती घोडी रै आगलै पगां ज्यूं है
व	सूवा बेंगण वास्तै/व वा सकै सबींदोकी		....
श	शशिया घांटा मुरेडिया		....
ष	षष्पा हूंणा चोरिया		....
स	सात सेर धान दै/स सो ही गोटो		....
ह	हाओली हिंडाओली/हीं दीहदोली		....

संदर्भ

जहूरखां मेहर, अर्जुन आळी आंख में निबंध 'ओळख', पृष्ठ 66–68 (राजस्था ग्रंथागार, जोधपुर, ई. 1990)। इसी प्रकार राजस्थान की संयुक्त प्रान्त व मध प्रान्त से सटी रियासतो की पाठशालाओं में अक्षर ज्ञान के लिये अनेक नी दोहों जिनमे बारहखडी के आरंभ में वर्णमाला के अक्षर होते थे बालको व रटाया जाता था।

दद्दा दोष न दीजै काहू, दोष कर्म अपने ही

जज्जा जपै सोई गाते पावै

सस्सा–साधु संग पावै जन कोई।

इस प्रकार की अनेक बारहखड़ियां थी जिन्हें बालक रटने में आनन्द ले के साथ अक्षर ज्ञान प्राप्त कर लेते थे।



देवनागरी लिपि की वर्णमाला व व्याकरण का ज्ञान करवाने हेतु सिद्धोवर्णीसमाम्नाय (संस्कृत सूत्र) का पाठ करवाने की परंपरा

राजस्थान की लगभग सभी पोसालों, विशेष रूप से मारवाड क्षेत्र में, चाहे वे दादूपथी पोसाले हों अथवा अन्य, उनमें कक्षा समय के अन्त में गुरु अपने विद्यार्थियों को देवनागरी लिपी की वर्णमाला और व्याकरण के बुनियादी सूत्रों का ज्ञान करवाने हेतु 'सिद्धोवर्णासमाम्नाय.' सूत्र का (मौखिक रूप से) महारणी के रूप मे उच्चारण अवश्य करवाते थे। इस उच्चारण से छोटे बालकों को प्रारंभ से ही स्वर--व्यजन, ह्रस्व दीर्घ के उच्चारण और सन्धियों आदि नियमो की जानकारी मिल जाया करती थी। यद्यपि यह सही है कि सस्कृत के इस सूत्र का पोसालो मे मारवाडी भाषा मे आचलिक उच्चारण किये जाने की परम्परा थी। इससे बालक आसानी से उच्चारित करने मे किसी प्रकार की कठिनाई महसूस नहीं करते थे। राजस्थान के शिक्षा के इतिहास मे भाषा का व्याकरण की दृष्टि से अत्यधिक महत्व रहा है। अतः अध्येताओ की सुविधा हेतु इस सूत्र का शुद्ध व अशुद्ध रूप अर्थ विवरण के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। संस्कृत का यह सूत्र पोसालो के हर वर्ग के विद्यार्थियों को कंठस्थ रहता था। इसका वास्तविक अर्थ तो वे संभवत प्रौढ होने पर ही समझ पाते थे। यहाँ हम इसका मारवाडी में आसक्ति उच्चारण, संस्कृत के शुद्ध उच्चारण व अर्थ विवरण प्रस्तुत कर रहे है--

स्थानीय आंचलिक भाषा में सीधोवरणो का पोसालों में लयबद्ध पाठ

सीधोवरणा. समामुनाया. चत्रुचत्रुदासा. दउसंवेरा. दसे समाना तेषु दुघ्यावरणाः नसीसवरणो पूरवोहंसवा पारोदीरघा. सारो चरणा. विणजोनामीः इकरादेणी संधकराणीः कादीनावूं विणज्यो नामिते बिरधापंचापंचा. विरधनावू. प्रथमदुतियोः संरवोसाईचा. घोषाघोषपितोरणीः आयणुनासका. निनाणुनामाः अंतासंता जेरेल्लवा रुकमणसंरवोसाहाः आयतीबिसर जूनीयाः कायती जवामुलीयाः पाइती पदमानीया. आयो रतन सवारोः पूर्वोबोफल्योरथो. पालारे पदुंपदू विणज्योनामी सरूंवरू बरणानेतू नेतकरमल्या नसलकजेतू लषोपचाईरा दुरगणसंधी एती सधी सूत्र ता प्रथमीपाटी सुमकताः।।

संख्या शुद्ध उच्चारण	अशुद्ध उच्चारण	अर्थ विवरण
1. सिद्धो वर्णसमान्नायः	सीद्धो वर्णा समामनाया	वर्णसमान्नाय अर्थात् वर्ण समुदाय स्वयंसिद्ध है अर्थात् साधित नहीं है।
2. तत्र चतुर्दशादौ स्वराः	त्रै त्रै चतुरक दश्या दउंसवारा दशे समाना	उन वर्णो में पहिले चौदह स्वर है। उनमें से पहिले दश वर्णो की समान संज्ञा है
3. दश समानाः	दशे समाना	उनमें से पहिले दश वर्णो की समान संज्ञा है
4. तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यसवर्णौ	ते खाउ दुधवा वर्णो तसीस वर्णों	उन समान संज्ञक वर्णो मे दो–दो वर्ण परस्पर सवर्णी माने जाते हैं
5. पूर्वो ह्रस्वः	पूर्वो हंस्या	उन द्विक वर्णो में से पूर्व 2 वर्ण ह्रख कहाते हैं
6 परो दीर्घः	पारो दीरघा	उन्हीं द्विकों में से पिछले वर्ण दीर्घ कहाते हैं
7. स्वरोऽवर्णवर्जो नामी	सारो वर्णा विन ज्योनामी	अवर्ण को छोडकर शेष स्वर नामी कहाते हैं
8. एकरादीनि सन्ध्यक्षराणि	इकरादीनी संघखराणी	एकारादि संध्यक्षर वर्ण हैं
9 कादीनि व्यंजनानि	कदेन हेतुविण ज्यो नामी	ककार आदि व्यंजन वर्ण हैं
10 ते वर्गाः पंच पंच	ते वरगा पंचोपंचा	वेही ककारादिवर्ण 5 मिलकर वर्ग कहलाते हैं और वर्ग पांच है
11. वर्गाणां प्रथमद्वितीयौ	विरधानाउं प्रथम दुतईया	वर्गों के पहिले और दूसरे वर्ण
12. शषसाश्चाघोषाः	संखसहेचिया	तथा श ष स ये अघोष हैं
13. घोषवन्तोऽन्ये	घोखाघोख पतोरणी	दूसरे वर्ण घोषवान् है
14. अनुनासिकाः ङ ञ ण न माः	अनुनासका न नानैरी नमा	ङ, ञ, ण, न, म, ये वर्ण अनुनासिक हैं

15 अन्तस्था यरलवा.	अंतसंथा जीरे लवा	य,र,ल,व, को अन्त स्थ कहते हैं
16 ऊष्माण. श ष स हा	उकमणा संखोसाहा	श,ष,स,ह, इनको ऊष्म कहते हैं
17 अः इति विसर्जनीय.	आईतीवी सारजनीयो	अः यहां विसर्जनीय है
18 ˘ क इति जिह्वामूलीय.	काईती जीबामूलियो	˘क को जिह्वामूलीय कहते हैं
19 ˘प इत्युपध्मानीय.	पाइती पदमानीयो	˘प इस को उपध्मानीय कहते है
20. अ इत्यनुस्वार	आयोअंत नसुंवारो	अं यहा अनुस्वार है
21. पूर्वपरयोरर्थोपलब्धौ पद्म	पूर्वो फलियोरथोपालपदु	पूर्व और परमे अर्थकी उपलब्धि होने पर पद माना जाता है
22. अस्वर व्यंजनम्	बिणज्यो नामी सरुवरुं	स्वररहितवर्णको व्यजन कहते हैं
23 परवर्णेन योजयेत्	बरण अनेतू	व्यजन को अगले वर्ण मे जोड देना चाहिए
24 अनतिक्रमयन् विश्लेषयेत्	अनेत करम्या बिसलप जेतू	अतिकम न करके संयोग करना चाहिए
25 लोकोपचाराद् ग्रहणसिद्धि इति सन्धिसूत्रत प्रथमश्चरण.	लखोपच्चायरा दुर्धण संधियेती सेती सुतरता प्रथमी सधी समापता	शेष सज्ञाओ की सिद्धि लोक की रीति से समझनी चाहिये यह सन्धिसूत्रकम से प्रथम चरण समाप्त हुआ[1]

संकेत-संदर्भ

1. यदि श्रीपाल चन्द – जैन सम्प्रदाय शिक्षा, निर्णय सागर प्रेस वि.सं. 1967 (1910 ई) साभार जगदीश सोनी नागौर।

गणित के सूत्र

पोसालो में बालकों को गणित में पारंगत बनाने के लिये विभिन्न प्रकार के पहाडे पढाये जाते थे। उनको विद्यार्थियों के लिये रुचिकर बनाने के लिये आचंलिक भाषा मे इस प्रकार छन्दबद्ध कर दिया जाता था कि विद्यार्थी उसे याद करने और बोलने में आनन्द का अनुभव किया करते थे। उनमें साधारण पहाड़ो और विकट पहाडो व वर्ग पहाडों को अधिकतर रटाया जाता था। इनको याद कर लेने पर विद्यार्थी छोटे बडे हिसाब किताब आसानी व शीघ्रता से करने में पारगत हो जाता था। कहने का तात्पर्य यह है कि नित्यप्रति के व्यवहार मे आने के लिये गणित के नियमो के 'गुरु' बनाकर उन्हें रटा दिये जाते थे। उनके कुछ उदाहरण इस प्रकार है –

वर्ग का पहाड़ा

वर्गमूल / वर्ग	वर्ग का पहाड़ा (भाषा में)	छोटर अेका रो पहाड़ो (राजस्थानी भाषा में)
1 X 1 = 1	एक वर्ग एक	अेका – अेका अेका
2 X 2 = 4	दो वर्ग घार	बिल – बिलिया घौका
3 X 3 = 1	तीन वर्ग नौ	तिया – तिया नका
4 X 4 = 1	घार वर्ग सोलह	घौक – मौक सोलै
5 X 5 = 1	पाँच वर्ग पच्चीस	पाण – पाण पचीस
6 X 6 = 1	छ वर्ग छत्तीस	छांण – 2 छतीस
7 X 7 = 1	सात वर्ग उनचास	सातू – साता गुणचास
8 X 8 = 1	आठ वर्ग चौंसठ	आठू – आठा चौंसठ
9 X 9 = 1	नौ वर्ग इक्यासी	नवै – नवै इक्यासी
10 X 10 = 1	दस वर्ग सौ	दहाय – दहाय सैकडौ
11 X 11 = 1	ग्यारह वर्ग इक्कीस–सौ	इग्यार – करू इक्कीसा–सौ
12 X 12 = 1	बारह वर्ग चौवालीसा–सौ	बारा – बार धमाळ–सौ
13 X 13 = 1	तेरह वर्ग उनहत्तर–सौ	तेरा – तेर गुणन्तर–सौ
14 X 14 = 1	चौदह वर्ग छियानबे–सौ	चवदा – चवदी छिन्नू–सौ
15 X 15 = 1	पन्द्रह वर्ग दो सौ पच्चीस	पनारियो – 2 दो सौ पचीसिऔ
16 X 16 = 1	सोलह वर्ग दो सौ छप्पन	सोळ – सोळिया दो सौ छप्पन
17 X 17 = 1	सतरह वर्ग दो सौ नवासी	सतरिये – 2 दो सौ नयासी
18 X 18 = 1	अठारह वर्ग तीन सौ चौबीस	अठारिये – 2 तीन सौ चौईसी
19 X 19 = 1	उन्नीस वर्ग तीन सौ इकसठ	उगणिये – 2 तीन सौ इकसट्टी

20 X 20 = 1
बीस वर्ग चार सौ

बीसा – बीसी च्यार सौ

21 X 21 = 1
इक्कीस वर्ग चार सौ एकतालीस

इक्की – इक्कीया च्यार सौ इकताळी

22 X 22 = 1
बाईस वर्ग चार सौ चौरासी

बाईये – बाईया च्यार सौ चोरासियौ

23 X 23 = 1
तेईस वर्ग पाँ सौ उनतीस

तेईये – तेईया पाच सौ गुणतीस

24 X 24 = 1
चौबीस वर्ग पाँच सौ छिहत्तर

चौईये – चौईया पाच सौ छियन्तरी

25 X 25 = 1
पचीस वर्ग छ सौ पचीस

पची – पचीया छव सौ पच्ची (स)

26 X 26 = 1
छब्बीस वर्ग छ सौ छिहत्तर

छवी (स) – छाई छव सौ छिहतरी

27 X 27 = 1
सताईस वर्ग सात सौ उनतीस

सताया – 2 सात सौ गुणतीस

28 X 28 = 1
अट्ठाईस वर्ग सात सौ चौरासी

अठाया – 2 सात सौ चोरासियौ

29 X 29 = 1
उनतीस वर्ग आठ सौ एकतालीस

गुणतिये–री–गुणा आठ सौ इकताळी (स)

30 X 30 = 1
तीस वर्ग नौ सौ

तीसा – तीसी नव सौ

31 X 31 = 1
इकतीस वर्ग नौ सौ इकसठ

इकतिया–2 नव सौ इकसठी

32 X 32 = 1
बत्तीस वर्ग एक हजार चौबीस

बती–बतीया दस सौ चौईस

33 X 33 = 1
तैंतीस वर्ग एक हजार नवासी

तैतीये–तैतीया दस सौ नवासी

34 X 34 = 1
चौंतीस वर्ग एक हजार एक सौ छप्पन

चौतीया–2 इग्यारे सौ छप्पन

35 X 35 = 1
पैंतीस वर्ग एक हजार दो सौ पच्चीस

पैंती–पैंतीया बारे सौ पची (स)

36 X 36 = 1
छतीस वर्ग एक हजार [illegible]

छती–छतिया बारे सौ छिन्नू

37 X 37 = 1
सैंतीस वर्ग एक हजार [illegible]

सैंती–सैंतीया [illegible]

38 X 38 = 1 अड़तिया–2 चवदे सौ चमाळी	अड़तालीस वर्ग एक हजार चार सौ चैवालीस
39 X 39 = 1 गुणताळिया–2 पन्दरे सौ इक्की (स)	उन्तालीस वर्ग एक हजार पाँच सौ इक्कीस
40 X 40 = 1 चळा–चाळी सोळ सौ	चालीस वर्ग एक हजार छ सौ
41 X 41 = 1 इकताळिय–2 सोळै सौ इक्यासी	एकतालीस वर्ग एक हजार छ सौ इक्यासी
42 X 42 = 1 बयाळिया–2 सतरै सौ चौंस्टी	बयालीस वर्ग एक हजार सात सौ चौंसठ
43 X 43 = 1 तैंयाळिया–2 अठारै सौ गुणचास	तैंतालीस वर्ग एक हजार आठ सौ उनचास
44 X 44 = 1 चमाळी–चमाळिया उगणीस सौ छत्ती (स)	चौवालीस वर्ग एक हजार नौ सौ छत्तीस
45 X 45 = 1 पैंताळी–पैंताळिया बीस सौ पचीस	पैंतालीस वर्ग दो हजार पचीस
46 X 46 = 1 छंयाळी–छयाळिया इक्की (स) सौ सोळा	छियालीस वर्ग दो हजार एक सौ सोलह
47 X 47 = 1 सैंताळी–सैंताळिया बाईस सौ नव	सैंतालीस वर्ग दो हजार दो सौ नौ
48 X 48 = 1 अडताळू–2 तेई सौ च्यारूँ	अडतालीस वर्ग दो हजार तीन सौ चार
49 X 49 = 1 गुणचासाई–2 चौई (स) सौ इकाई	उनचास वर्ग दो हजार चार सौ एक
50 X 50 = 1 पचा–पापडी पचीसा सौ	पचास वर्ग दो हजार पाँच सौ

उपरोक्त पहाडे को कहीं–कहीं पर इस प्रकार से भी मौखिक रूप से बोलकर रटा जाता था। कुछ अंश इस प्रकार है–

31 X 31	इकलिया अमरिया नौ नो इकसठे	961
32 X 32	बत्तियो बामणिया दस सौ चौईस	1024
33 X 33	तेतिया मेतिया दस सो नवासी	1089
34 X 34	चौतिया रै मोतिया ग्यारासौ छपनड़ी	1156
35 X 35	पैतियां रै पेमाराम बारासौ पचीसे	1225
36 X 36	छतियां रै छाजूराम बारासौ छिणमे	1296

37 X 37	सैंतियां रै सेवाराम तेरा सौ घुणत्तर	1369
38 X 38	अडतियां रै आसाराम चौदा सौ चम्मालीस	1444
39 X 39	गुण चालिया गुमानीराम पंदरा सौ इक्कीस	1521
40 X 40	चल्ला चल्ला के सोलासौ	1600

ऊपर हमने बालको को अक्षर–ज्ञान व गणित के सूत्रो के सहज रूप मे याद कर लेने के कुछ सूत्रों पर प्रकाश डाला। वैसे राज्य की संस्कृत पाठशालाओ, महाजनी की पोसालो व उर्दू–फारसी के मकतबो मे लगभग हर विषय को रटने मे सरलता उत्पन्न करने के लिए गद्य को भी छोटे–छोटे वाक्यो को स्थानीय भाषा मे जोर–जोर से याद करने की व्यापक परिपाटि प्रचलन मे थी।